

शिक्षाशास्त्र के नए क्षितिज

संस्कृति शिक्षा और लोकतंत्र

नरिंदर सिंह

आप इनको भी पढ़ें

पॉलो फ्रेरे
उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र

मूनिस रज़ा
शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

सिल्विया एश्टन-वॉरनर
अध्यापक

गैरेथ बी. मैथ्यूज़
बच्चों से बातचीत

बारबियाना स्कूल के बच्चे
अध्यापक के नाम पत्र

रामशरण जोशी
आदिवासी समाज और शिक्षा

जॉर्ज डेनीसन
बच्चों का जीवन

मरिया मंटिसरी
ग्रहणशील मन

वीट्टीस एवॉलास
गरीब बच्चों की शिक्षा



ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड

अनुवादक
चंद्रभूषण

संस्कृति शिक्षा और लोकतंत्र

नरिंदर सिंह

अनुवादक
चंद्रभूषण

ग्रंथ शिल्पी
नई दिल्ली 110002

ग्रंथ शिल्पी

© नरिंदर सिंह
प्रथम हिंदी संस्करण 1996
ISBN 81-86684-11-5

श्यामबिहारी राय द्वारा ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दरियागंज,
नई दिल्ली 110002 के लिए प्रकाशित तथा डी.पी. ग्राफिक्स, उत्तम
नगर, नई दिल्ली 110059 द्वारा लेजर सेट होकर विकास
आफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032 में मुद्रित.

प्रस्तावना

नरिंदर सिंह भारत के उन विरले अर्थशास्त्रियों में से हैं जिन्होंने आर्थिक विकास की समस्या को पर्यावरण के संदर्भ में समझने का प्रयास किया है। पर्यावरण के विनाश को आम जन की बेबसी से जोड़कर आर्थिक विकास का पाखंड खोलकर दिखाने वाले वे अकेले भारतीय अर्थशास्त्री हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि उनसे परिचित कुछ लोग उन्हें अर्थशास्त्र-विरोधी कहते हैं। आजादी के बाद से अर्थनीति के संदर्भ में विकास की जैसी रूपरेखा एक आधारभूत मान्यता के रूप में स्वीकारी गई और अर्थशास्त्र समेत सभी समाज विज्ञानों की पढ़ाई-लिखाई का अनिवार्य चौखटा बनी, नरिंदर सिंह उसे नहीं स्वीकारते। उनकी अस्वीकृति का आधार कोई रुमानी या अलबेला मिजाज नहीं है, बल्कि यूरोप की नवशास्त्रीय अर्थदृष्टि की ऐतिहासिक और भौतिक जड़ों से उनका निर्णायक परिचय है। ये जड़ें उपनिवेशवाद के तहत बनी विश्व-व्यवस्था में निहित हैं। वही आज हथियारों के व्यापारतंत्र में फलफूल रही है। नरिंदर सिंह की अब तक दो महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होंने अपनी दोनों पुस्तकों में आर्थिक विकास की अवधारणा को सेना और उद्योगतंत्र के गठबंधन के संदर्भ में रखा है। उनका विश्लेषण दिखाता है कि इस गठबंधन के रहते भारत जैसे तमाम उत्पीड़ित समाजों के लिए आर्थिक विकास एक क्रूर धोखे और स्थाई परतंत्रता के नुस्खे से अधिक कुछ नहीं है।

नरिंदर सिंह की इस छोटी पुस्तक का हिंदी में अविकल प्रकाशन एक बड़ी बात है। इसको सबसे पहले लंबे निबंध की शक्ल में एक पर्चे के रूप में लिखा गया था जिसको उन्होंने 1989 में नेहरू संग्रहालय में आयोजित एक संगोष्ठी में पढ़ा था। शिक्षा पर अलग से कुछ लिखाने के लिए उन्हें राजी करना इस संगोष्ठी के आयोजक के रूप में मेरे लिए बहुत कठिन काम साबित हुआ था। आज भी नरिंदर सिंह की चिंताएं और दृष्टि शिक्षाशास्त्र और नियोजन के चालू विमर्श से बेगानी प्रतीत होती हैं। यही उनके महत्व का कारण है। शिक्षा संबंधी विमर्श हमारे

देश में प्रायः राज्य-प्रदत्त पिटे-पिटाए संदर्भों के भीतर चलता रहा है। उनका मानना है कि शिक्षा का मूल उद्देश्य मनुष्य को आलोचनात्मक विवेक देना है। अपने समाज के प्रति सजग बनाना है।

इधर के वर्षों में तथाकथित 'नई' अर्थनीति के चलते शिक्षा की बहसें और भी संकीर्ण और उबाऊ हो उठी हैं। यह परिवर्तन नव-उदारवादी, बाजार-केंद्रित दर्शन के उभार के साथ-साथ पश्चिम के देशों में भी आया है। डीवी ग्राम्शी और फ्रेरे की इस सदी में पश्चिमी शिक्षा-चिंतन को यकायक न जाने क्यों लकवा मार गया है। संस्कृति और लोकतंत्र के विराट फलक पर शिक्षा की भूमिका समझने के लिए आज हम किसी समकालीन पश्चिमी चिंतक की शरण में नहीं जा सकते। नरिंदर सिंह की यह छोटी पुस्तक इस फलक पर शिक्षा की वास्तविक और संभव दोनों भूमिकाओं की जांच करने का एक नायाब प्रयास है।

शिक्षा विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
15 अगस्त, 1996

कृष्ण कुमार

प्राक्कथन

हिंदी-भाषी पाठकों के साथ अपने विचारों का आदानप्रदान करते हुए मुझे खुशी हो रही है और इस मौके का इस्तेमाल मैं यह मत व्यक्त करने के लिए करना चाहूंगा कि अपने परिवेश के प्रति गहरा लगाव वह एकमात्र रास्ता है, जो हमें संस्कृति और शिक्षा को सकारात्मक गतिविधियों के बतौर काम में लाने की ओर ले जाएगा। इसका तात्पर्य यह भी है कि पृथ्वीतंत्र की प्रकृति के प्रति कोई लगाव न रखना अनिवार्यतः संस्कृति और शिक्षा दोनों को ही खतरनाक हद तक प्रति-उत्पादक प्रक्रियाओं में बदल देगा।

गाइआ के बतौर पृथ्वी

मेरे खयाल से पृथ्वीतंत्र की मूल प्रकृति को आत्मसात करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका इसे गाइआ के रूप में देखना है। यह उन दो नामों में से एक है, जिन्हें प्राचीन यूनानियों ने अपनी पृथ्वी देवी को दिए थे। दूसरा नाम 'जे' है। जो ज्योमेट्री, ज्योग्राफी, ज्योलॉजी और ज्योफिजिक्स जैसे कई विज्ञानों के नामों का मूल है। और अब हमारे दौर के एक मशहूर जीवनविज्ञानी जेम्स लवलॉक ने अपेक्षाकृत ज्यादा भक्तिभाव वाले शब्द गाइआ की उस प्रक्रिया को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया है, जिसके जरिए *जीवन अजैव वस्तुओं को समायोजित करता है ताकि यह ग्रह उसके लिए उपयुक्त स्थान बना रहे*। वे इसे इस तरह देखते हैं कि गाइआ पृथ्वी के आकार का सबसे बड़ा जीवित प्राणी है। उनकी अवधारणा में जो बात है, वह इस एक महत्वपूर्ण अर्थ में विज्ञान को कविता की ऊंचाई पर पहुंचा देती है। एक चीज, जिसे सिद्धांत और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से अलग-थलग टुकड़ों का ढेर समझा जाता था, उसे एक अखंड चीज के रूप में देखने के लिए कवि कल्पना की एक छलांग से कम किसी और चीज से काम नहीं चलने वाला है।

जाहिर है कि इस किस्म के संश्लिष्ट नजरिए की जरूरत पर जितना भी जोर

दिया जाए, कम है। आज हम जिन असाध्य समस्याओं से घिरे हैं, उनमें से ज्यादातर गलत विश्लेषण की सनक से उपजी हैं, और इसने ही आधुनिक सैन्यवादी-उपभोक्तावादी मनुष्य के उदय की स्थितियाँ तैयार की हैं। “समकालीन यूरोपीय सभ्यता ने जो सर्वाधिक विकसित कौशल अर्जित किया है, वह है विच्छेदन, समस्याओं को उनके अल्पतम संभावित घटकों में तोड़ देना। इसमें हमारी महारत इतनी अच्छी है कि अकसर हम टुकड़ों को जोड़कर एक करना भूल जाते हैं” (टॉफ्लर)। इसके अलावा यह भी, कि पर्यावरण तंत्र अगर एक बार बिखर जाए तो इसे जोड़कर एक किया ही नहीं जा सकता है। हमें बताया जा चुका है कि जो वन-विनाश हो रहा है, वह सदा-सदा के लिए हो रहा है।

लवलोंक गाइआ को इस प्रकार परिभाषित करते हैं: ‘यह एक जटिल अस्तित्व है, जिसमें पृथ्वी का जैवक्षेत्र, वातावरण, समुद्र और इसकी मिट्टी शामिल हैं। इन में से बायोस्फेयर या पृथ्वी पर फैला जैवक्षेत्र सक्रिय रूप से और इसीलिए सक्षम रूप से शेष को नियंत्रित करता है। इनको ‘केमोस्फेयर’ (रसोमंडल) के घटकों के बतौर लिया जा सकता है। यह शब्द लवलोंक का नहीं, मेरा है, लेकिन यहां जो बहस का मुद्दा है, वह है उनका इस बात पर जोर कि गाइआ एक फीडबैक या साइबरनेटिक सिस्टम है, जो इस ग्रह पर जीवन के लिए सर्वाधिक उचित भौतिक और रासायनिक वातावरण निर्मित करता है। इसी बात को वे ‘गाइआ परिकल्पना’ कहते हैं। लेकिन जैसा कि वाल्ट क्लिट्मैन ने कहा था, ‘किसी को भी चिड़ियों, पेड़ों और फूलों के बारे में जरूरत से ज्यादा सटीक होने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।’ इसी तरह गाइआ के बारे में भी किसी को इतना सटीक नहीं होना चाहिए। लिहाजा मोटे तौर पर देखें तो गाइआ, जो ‘जैव सेल का पर्यायवाची नहीं है,’ बायोस्फेयर पर केमोस्फेयर के नियंत्रण या जारी नियंत्रण का पर्यायवाची माना जा सकता है। इस तरह गाइआ बायोस्फेयर और केमोस्फेयर के बीच अंतःक्रिया की नहीं, बल्कि पहले द्वारा दूसरे के समायोजन की सतत और अविराम प्रक्रिया है। यहां यह बात जोड़ देना भी उचित लगता है कि संस्कृत में गाइआ का समतुल्य शब्द ‘गो’ आता है, जिसका अर्थ ‘पृथ्वी’, ‘गाय’ और ‘मां’ भी होता है।

1972 में यह विचार अस्तित्व में आया और उसके बाद से हर तरफ काफी विस्तार से लोगों ने इस पर लिखा। इस प्रकार आज का दिन आते-आते गाइआ काफी अच्छी तरह समझी-बूझी अवधारणा बन चुकी है। इसके बावजूद जहां तक मुझे मालूम है सिर्फ ऑक्सफोर्ड के शब्दकोशों ने इस अवधारणा पर ध्यान देना शुरू किया है। द न्यू शार्टर ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने इसकी निम्नलिखित औपचारिक

परिभाषा दी है : एक ऐसे आत्मनियंत्रित तंत्र के रूप में पृथ्वी की अवधारणा, जिसमें जीवित द्रव्य सामूहिक रूप से जीवन के जारी रहने की परिस्थितियों को परिभाषित करता है और उन्हें बरकरार रखता है।

चूँकि मैं जीववैज्ञानिक नहीं हूँ और किसी और किस्म का शुद्ध वैज्ञानिक भी नहीं हूँ, लिहाजा मैं प्रोफसर लवलोंक की दलील के तकनीकी विस्तार में नहीं जा सकता। लेकिन जो उदाहरण वे देते हैं, वे मुझ जैसे अवैज्ञानिक को भी कम से कम पूर्वाभास की तरह यह देखने को बाध्य कर देते हैं कि जीवन पृथ्वी को अपने लिए उपयुक्त बनाए रखने की कोशिश करता है। जैसे, किसी पत्थर की मूर्ति पर चाहे जितना भी कपड़ा लपेट दिया जाए, वह इसे अनिश्चित काल तक जाड़े की ठंड और गर्मी की तपन से नहीं बचा सकता। दूसरे शब्दों में यह मानव शरीर है, जो अपनी सहायता के लिए सक्रिय रूप से कपड़ों की सहायता करता है। इसे थोड़ा अलग तरह से कहा जाए तो यदि साइकिल और इसे चलाने वाले सवार को एक इकाई मान लिया जाए, तो यह साइकिल सवार है जो कि इस इकाई को चलाने की स्थिति में रख रहा है। यह इस बात की व्याख्या करता है कि क्यों प्रोफेसर लवलोंक के अनुसार वातावरण जैव सेल की महज एक सहवर्ती चीज़ है: ‘जीवित नहीं पर बिल्ली की रोएंदार खाल की तरह, या चिड़ियों के पंखों, या बर्त के छत्ते की मोम की तरह जीविततंत्र का विस्तार है जो एक चुनिंदा वातावरण बरकरार रखने के लिए बना है।’

वे कहीं और ऐसा दावा करते हैं कि उन्होंने और अन्य लोगों ने जो साक्ष्य जुटाए हैं, वे लगभग बिना किसी संदेह के यह स्थापित करते हैं कि पृथ्वी एक जैविक निर्मिति है, लेकिन उनके अनुसार गाइआ चूँकि अपने बच्चों को खा जाने पर आमादा है, इसीलिए ‘खाया जाना ही हमारी नियति है।’ यानी यह कि क्षय और मृत्यु सुनिश्चित और अपरिहार्य हैं। यह भी कि ‘सूरज की लगातार बढ़ती गर्मी को रोकना संभव नहीं और जल्द ही यह (गाइआ की) विनियमन या समंजन क्षमता के पार चली जाएगी। फिर भी मनुष्य की दृष्टि से पृथ्वी हमेशा के लिए रहने योग्य बनी हुई है, पर गाइआ की दृष्टि से, यदि पृथ्वी के समूचे जीवनकाल को एक वर्ष माना जाए तो हम अब दिसंबर के आखिरी हफ्ते में पहुंच चुके हैं।’

लेकिन अब इस बात के लिए पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं कि शुद्ध मानवीय दृष्टि से भी पृथ्वी बहुत अधिक समय तक रहने लायक नहीं रह सकती। 104 नोबल पुरस्कार विजेताओं ने, यानी विज्ञान के क्षेत्र में पुरस्कार विजेताओं की बहुसंख्या ने, और दुनिया भर के 1750 अन्य विश्वविख्यात वैज्ञानिकों ने मानवता

के प्रति चेतावनी देने के लिए एक वक्तव्य तैयार किया जिसे यूनिन ऑफ कनसर्न्ड साइंटिस्ट्स ने 17 नवंबर 1992 को जारी किया। यह वक्तव्य मनुष्यों और प्रकृति-व्यवस्था के बीच संभावित, 'टकराहट' की चर्चा करता है। इसका कहना है कि अगले एक या कुछेक दशकों में 'मानव-अस्तित्व की संभावनाएं हद से ज्यादा कम हो जाएंगी।' साथ ही साथ हम यह भी न भूलें कि इस किस्म की कमी 'गाइआ' द्वारा अपने बच्चों को खा जाने के रिवाज' के चलते नहीं, बल्कि बहुत हद तक मानवीय कुकर्मों के चलते आएगी। लिहाजा गाइआ की दृष्टि से नहीं, पूरी तरह मनुष्य की दृष्टि से विचार करें तो अगर पृथ्वी पर हमारा कुल समय एक साल का रहा है तो एक प्रजाति के बतौर हम दिसंबर के आखिरी हफ्ते में नहीं, बल्कि इस माह की आखिरी शाम में जी रहे हैं। इसे ध्यान में रखते हुए संभवतः प्रोफेसर लवलॉक द्वारा अपने इस दावे को जायज ठहराना आसान न हो कि हमारे पास आगे इस दृष्टि से काफी समय बचा है कि एक प्रजाति के बतौर हमारे लिए अपना 'नियत कालखंड' जी लेना संभव हो जाए।

बहरहाल, यह नियत काल खंड संभवतः पहले ही उस परिघटना द्वारा बहुत अधिक घटा दिया गया है, जिसे लेस्टर ब्राउन ने 'इतिहास का त्वरण' (गति को तेज करने वाला) कहा है। पर जिसे बेहतर अभिव्यक्ति के लिए 'इतिहास का पतनशील त्वरण' कहा जाना चाहिए। इस पतनशील त्वरण के कुछ खास तत्व उनके अनुसार इस प्रकार हैं: बहुत ज्यादा मछली पकड़ना, बहुत ज्यादा पशु चराना, जल स्रोतों का ख़त्म होना, वन-विनाश, मिट्टी-कटाव और बढ़ता तापक्रम, जो बाढ़, सूखा, आग और तापलहर जैसी घटनाओं को और बढ़ा सकता है। बिजलीघरों और हथियार उद्योगों से निकला रेडियोधर्मी कचरा और नगरपालिकाओं तथा उद्योगों द्वारा निकाले जाने वाले कूड़े के पहाड़ इतिहास की इस पतनशील गति को और तेज करेंगे और इस तरह मानवीय दृष्टि से पृथ्वी की आवास-क्षमता को नष्ट करेंगे, और वह भी निकट भविष्य में ही।

सचमुच यह विडंबना ही है कि जहां जीवन स्वयं अपनी सुरक्षा के लिए एक चुनिंदा वातावरण को बरकरार रखता है वहीं इस ग्रह पर उपजा एकमात्र आत्मचेतन बुद्धिमान प्राणी (मनुष्य) अपनी प्रजाति, अपने आवास-स्थल के निर्मम, निर्बाध विनाश का मूक साक्षी बना हुआ है। लिहाजा मैं गाइआ (पृथ्वीतंत्र) पर पूर्णतया मानवीय दृष्टि से विचार करना बहुत जरूरी समझता हूं।

ऐसा करते हुए भी मैं भविष्य में किसी दिन उस मानव केंद्रीयतावाद के पुनरावतार की वकालत नहीं कर रहा जो अपने मूल संस्करण में मनुष्य को ब्रह्मांड

के केंद्र में अवस्थित किए रहता था। दरअसल जिस स्थिति का खाका हमारी प्रजाति पर मंडरा रहे खतरों के ही जरिए बन रहा है, ऐसे दृष्टिकोणों के केंद्रीय दृष्टिकोण का स्थान लेने के दावे के भी पूरी तरह मैं खिलाफ हूं, इसलिए कि इसमें प्रकृति को मनुष्य द्वारा जीते जाने योग्य वस्तु माना जाता है। क्योंकि मनुष्य द्वारा इस विषय में यही आशा की जानी चाहिए और उसे हमेशा यही आशा करनी चाहिए कि वह इसके साथ एक सचेत तालमेल कायम करे।

मैं जो काम करने की कोशिश में हूं, वह है मानव-आवास के लिए पृथ्वीतंत्र को सतत कार्यकारी स्थिति में बनाए रखने के काम की पूर्ण प्राथमिकता सुनिश्चित करना। और मेरा यह मानना है कि खासकर आज की स्थिति में, जबकि हमारे परिवेश के ही प्रलयकारी विध्वंस की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता, यह अकेला काम ही बहुत महत्व रखता है। ऐसा इसलिए कि यह विध्वंस मानव इतिहास का सर कलम कर देगा—इसके पहले कि गाइआ हम सभी को 'खा जाने की' तैयारी करे। लिहाजा मुझे ऐसा लगता है कि परामानवीय और पराऐतिहासिक गाइआ के प्रति संपूर्ण चिंता अनिवार्यतः इस किस्म की संभावना के प्रति पूर्ण अलगाव और अत्यधिक दुर्भाग्यशाली ढंग से इससे नजर फेर लेने का भाव व्यक्त करती है। इसके समर्थन में रवींद्रनाथ टैगोर की एक कविता की अंतिम पंक्तियां उद्धृत करने से बेहतर कुछ नहीं किया जा सकता। यह कविता उन्होंने एक बार यह बात स्पष्ट करने के लिए लिखी थी कि केवल मनुष्य अव्याख्यायित और अवाचिक यथार्थ को अर्थ देने की शक्ति रखता है :

केवल मेरी चेतना के रंग ने
पुखराज को हरा रंग दिया
और माणिक्य को लाल....

और अंततः, यदि मनुष्य पृथ्वी से विलुप्त हो जाए तो :

ऊर्जा तरंगे एक आसमान से दूसरे आसमान तक
थिरकती रहेंगी पर प्रकाश कहीं, कोई न होगा।

इसे इस प्रकार लेने पर चेतना, जैसा कि आर्थर कोएस्टर कहते हैं, एक उदीयमान गुण है, जो अंततः विशृंखलता में एक क्रम निकाल लेती है, और 'शोर' में से एक 'सूचना'। हमारे युग के एक अद्वितीय न्यूरोफिजिओलॉजिस्ट रोजर स्पेरी का हवाला इस विचार के संदर्भ में वे देते हैं कि उद्बिकास के दौरान सचेतन संज्ञान

की प्रथम अभिव्यक्ति से पूर्व *समूची ब्रह्मांडीय प्रक्रिया* खाली बेंचों के सामने खेले जाने वाले नाटक से ज्यादा कुछ भी न थी—रंगहीन और मौन, क्योंकि मस्तिष्क के निर्मित होने से पहले *ब्रह्मांड में न कोई रंग था और न कोई ध्वनि*। यह भी कि यह ब्रह्मांड सुगंध, दुर्गंध, अनुभूति या भावना, दर्द या चिंता से पूरी तरह खाली था। मस्तिष्क ने किस प्रकार ब्रह्मांडीय योजना में रंग, गंध, दुःख, सुख और मानसिक अनुभव के दूसरे पहलू जोड़े, यह समूचे विज्ञान के लिए संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण खोज का विषय बना रहेगा।

इस पूरी बात से तात्पर्य यह है कि परामानवीय और परा ऐतिहासिक गाइआ के बारे में बात करने का कोई तुक नहीं है क्योंकि एक बार अगर मनुष्य धरती से विलुप्त हो गया, एक बार आंखें बंद हो गई, दिमाग निष्क्रिय हो गया तो कोई जैव रूप गाइआ को कोई अर्थ न देगा और गाइआ अपनी पुरानी अव्याख्येय स्थिति में वापस लौट जाएगी। ऐसी स्थिति में जैसा कि टैगोर इसे कहते :

जीवन फिर भी अजैव चीजों का समायोजन जारी रखेगा
पर कोई यह कहने वाला न होगा कि 'देखो! यही है गाइआ'

इसका तात्पर्य सिर्फ इतना है कि अगर मनुष्य को एक प्रजाति के बतौर पैदा होने के लिए गाइआ की जरूरत है तो गाइआ को भी एक प्रक्रिया के बतौर *पहचाने जाने के लिए* मनुष्य की जरूरत है। या, यदि गाइआ का बिना पहचान का अस्तित्व भी मनुष्य के अस्तित्व की अनिवार्य शर्त है तो गाइआ की पहचान होने के लिए भी मनुष्य का अस्तित्व कुछ कम अनिवार्य नहीं है। क्योंकि यदि मनुष्य चला गया तो कोई यह *जानने* वाला न होगा कि गाइआ का स्वास्थ्य अच्छी हालत में है या बुरी। लिहाजा जेम्स लवलॉक की उस चिंता को उचित ठहराना कठिन है जिसे वे 'ग्रह के स्वास्थ्य' के प्रति दर्शाते हैं, और ठीक उसी वक्त 'जीवों की कुछ खास प्रजातियों' के स्वास्थ्य के प्रति बेरुखी का भाव दिखाते हैं। मेरा ख्याल है, मनुष्य उन प्रजातियों में से एक नहीं है। इस का मतलब यह, कि सामाजिक और विचारशील कर्त्ता होने के चलते हमारे पास इसका कोई विकल्प नहीं है कि हम एक प्रजाति के बतौर अपने स्वास्थ्य पर मंडराते उन खतरों की पड़ताल करें जिन्हें आर्थिक, राजनीतिक और सैन्य शक्तियों की अफरा-तफरी ने हमारे सामने ला खड़ा किया है।

निश्चित रूप से अलबर्ट आइंस्टीन जेम्स लवलॉक की बात से सहमत होते क्योंकि काफी पहले 1930 में रवींद्रनाथ टैगोर से बात करते हुए उन्होंने ऐसा कहा

था। 'मैं इसे सिद्ध नहीं कर सकता कि वैज्ञानिक सत्य को ऐसे सत्य के बतौर लिया जाना चाहिए जो मानवता से स्वतंत्र हो पर मैं *दृढ़तापूर्वक इस पर यकीन करता हूँ*। मसलन, मैं यह मानता हूँ कि ज्यामिति में पाइथागोरस की प्रमेय एक ऐसी चीज है, जो मनुष्य के अस्तित्व से स्वतंत्र रूप से लगभग सत्य है।'

टैगोर के लिए यह स्वीकार्य नहीं था। उन्होंने कहा कि सत्य तक केवल तर्क-प्रक्रिया के जरिए पहुंचा जा सकता है। यानी चिंतन करने वाले एक अंग के जरिए, जो मानवीय है; क्योंकि मनुष्य जो कुछ महसूस करता है, जैसे एक मेज, यदि मस्तिष्क का अस्तित्व न हो; वह पहचान योग्य वस्तु नहीं रहेगी। वे यह भी कह सकते थे कि पाइथागोरस की प्रमेय संभवतः अधर में ही लटकी रह जाती और इसे अवधारणा में लाने और इसका बयान करने के लिए कम से कम किसी पाइथागोरस की जरूरत तो थी।

लेकिन अगर अलबर्ट आइंस्टीन नहीं तो कम से कम नील्स बोर ने उस बात पर हमी भरी होती, जिसे मैं कह रहा हूँ। क्योंकि वर्नर हाइजेनबर्ग से बात करते हुए एक बार उन्होंने क्रोनबर्ग किले के बारे में कहा था कि यह किला उस वक्त महज एक वास्तुशिल्प की वस्तु नहीं रह कर 'एक भिन्न भाषा' बोलने लगता है, जब किसी को यह बात याद आती है कि यहां हेमलेट रहा करता था। जाहिर है कि एक सामाजिक प्रजाति का, हमारी अपनी प्रजाति का, पृथ्वी पर आना एक व्यक्ति—हेमलेट के—एक किले में आने की अपेक्षा कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि एक किला हेमलेट के आ जाने से अलग भाषा बोलने लगता है, तो पृथ्वी, *एक जीवित फिर भी गूंगे ग्रह* ने मनुष्य के आने से बोलने की क्षमता अर्जित की है और जैसे ही वह चला गया, यह एक बार फिर संपूर्ण गूंगेपन में वापस लौट जाएगी। तब विज्ञान के लिए इसका बुरा स्वास्थ्य किसी चिंता का कारण न होगा और इसकी सीधी सी वजह यह होगी कि यहां कोई वैज्ञानिक ही नहीं रह जाएगा, लिहाजा विज्ञान भी नहीं रह जाएगा।

गाइआ हमले के दायरे में

मेरे ख्याल से हमारे भवितव्य की उत्तरोत्तर गहराती खराब स्थिति का इससे ज्यादा चिंताजनक कोई और कारण नहीं है कि गाइआ लगातार उस कचरे से छुटकारा पाने में अक्षम होती जा रही है, जिसे दुनियाभर में सैन्य-उपभोक्तावाद अंतहीन रूप से पैदा करता जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप केमोस्फियर (रसोमंडल) में

जमा होने वाले कचरे के बढ़ते चले जाने के अलावा और कोई चारा नहीं है। केमोस्फेयर (रसोमंडल) का यहां अर्थ है, वातावरण, समुद्र और मिट्टी। इस प्रकार मानव-आवास की दृष्टि से गाइआ का स्वास्थ्य भी बिगड़ता जा रहा है। प्रोफेसर लवलॉक ने एक बार पत्र-व्यवहार के क्रम में मुझे बताया था कि गाइआ की जकड़न उतनी ज्यादा नहीं है, जितना कि मैं सोचता हूं। उसके पास ऐसी क्षमता है कि, वह धरती की सतह के नीचे दहकती आग में कचरा झोंक दे। उन्होंने इसकी जो व्याख्या दी थी, वह मेरे लिए कुछ ज्यादा ही तकनीकी थी, पर मेरे ख्याल से उनका निष्कर्ष यही था।

लेकिन परामानवीय परिप्रेक्ष्य ग्रहण कर लेने के बाद प्रोफेसर लवलॉक उस कचरे के बारे में चिंतित नहीं हैं, जिसे जमा होते मैं देख रहा हूं। दरअसल वे इसे इस रूप में रखते हैं कि प्रदूषण की अवधारणा मानव-केंद्रीयतावादी है और 'गाइआ के संदर्भ में यह महत्वहीन है'। जो भी हो, यहां जो बात मायने रखती है, वह सिडनी स्मिंक के शब्दों में बहस करने वाले दो व्यक्तियों का 'अलग-अलग आधार से' किया जाने वाला विवाद है और किसी को भी उस आधार को उचित ठहराने की जरूरत महसूस नहीं होती जिस पर उसकी तर्कप्रणाली टिकी हुई है। लेकिन आज हमारे भवितव्य पर गहराते विराट संकट को देखते हुए यह ज्यादा जरूरी है कि प्रोफेसर लवलॉक हमारे भविष्य के प्रति अपनी बेरुखी के बारे में सफाई के बतौर कुछ कहें। उनसे कई बार इसकी वजह बताने को कहा गया है कि क्यों वे एक ऐसी गाइआ के पक्ष में बोलना जारी रखे हुए हैं जो आत्मपरिपोषित है और उन अधिक तात्कालिक समस्याओं पर कुछ भी बोलने से इनकार करते जा रहे हैं जिन्हें हम झेल रहे हैं। हां, सिर्फ एक बार उन्होंने कुछ कहना उचित समझा और इससे ज्यादा कुछ भी नहीं कहा कि 'मैं नहीं जानता इसे अपने साथ लेकर ही मैं धरती पर आया हूं (लवलॉक 1988: 49)। जाहिर है कि इसकी व्याख्या 'शुद्ध' विज्ञान के प्रति उनकी दृढ़ प्रतिबद्धता में निहित है जैसा कि मैक्स प्लैंक ने कहा होता कि 'केवल तर्क' की तरह केवल विज्ञान 'किसी को अपने बोध के दायरे से बाहर ले जाने में अक्षम है (और) यहां तक कि यह अपने सहकर्मी मनुष्यों के अस्तित्व को पहचानने के लिए भी उसे बाध्य नहीं कर सकता। खासकर परामानवीय गाइआ पर प्रोफेसर लवलॉक के केंद्रीकरण में हम इसकी चरम स्थिति पाते हैं कि विज्ञान समूची मानवजाति के अस्तित्व को मानने से ही इनकार कर सकता है।

एक सहकर्मी के सरलीकरण को गर्मजोशी से स्वीकारते हुए वे इसे गलत नहीं

मानते कि बड़े स्तनपाइयों की (जिनमें हम भी शामिल हैं) आतें मुख्यतः सूक्ष्म जीवों के एक व्यापक दायरे के लिए अवायवीय परिवेश मुहैया कराती हैं। इसका नतीजा यह निकलता है कि हिटलर और स्टालिन का मूल अपराध लाखों लोगों का संहार करने का नहीं था बल्कि अनगिनत महाशंख नहीं, तो अनगिनत खरब सूक्ष्म जीवों का संहार करने का था। पर यदि उन्होंने अपने आतंक को इस प्रकार व्यवस्थित कर लिया होता कि उनके शिकारों की आतें सुरक्षित रह जातीं और दिमाग खत्म हो गए होते तो वे किसी भी अपराध के दोषी न होते। लेकिन यह ऐसी 'सावधानी' थी, जिसे संभवतः परमाणु बम का इस्तेमाल करते हुए दूमन नहीं अपना सकते थे। फिर भी उन्होंने जिन चीजों को धूल में मिला दिया, वे दो एशियाई शहर नहीं थे बल्कि गाइआ के प्यारे बच्चे, उसकी आंखों के तारे सूक्ष्म जीवों की दो लाख की चहल-पहल भरी बस्तियां थीं। हमारे समय में मेडिसन एवेन्यू के रुझान गढ़ने वाले उपभोक्तावाद की आग धधकाते हैं और पृथ्वी के संसाधनों की त्वरित बर्बादी को अंजाम देते हैं लेकिन जब तक वे स्वयं को मनोवैज्ञानिक तोड़मरोड़ तक सीमित रखते हैं और उसके भीतरी अंगों को जस-का-तस छोड़ देते हैं, तब तक उन पर किसी गलत काम का आरोप नहीं लग सकता। दरअसल पृथ्वी पर मौजूद सारी विषमता समाप्त हो जाएगी अगर सूक्ष्म जीवों को मानव-आतों में फलने फूलने दिया जाए। सिर्फ यही इस बात के लिए भी काफी होना चाहिए कि गृहविहीनता और कुपोषण का भी समस्या के बतौर खात्मा हो जाए।

तो मानव-केंद्रीयतावादी विश्वदृष्टि के बजाए सूक्ष्मजीव केंद्रीयतावादी दृष्टिकोण पर स्थिर रहने की ये कुछ स्वाभाविक परिणतियां हैं, यद्यपि प्रोफेसर लवलॉक का तर्क यह है कि मनुष्य की पूर्ण उपेक्षा करते हुए वे मानव-केंद्रीयतावाद के कलंक से मुक्त हो सकते हैं। लेकिन ऐसा करते हुए वे नहाने का पानी फेंकने के साथ-साथ बच्चों को भी फेंक आने का इंतजाम कर चुके हैं।

लेकिन नहाने का पानी यानी मानव-केंद्रीयतावाद कोई ऐसी चीज नहीं, जिसे नजर आते ही फेंक देना जरूरी हो। ऐसा इसलिए कि सोचने की क्षमता रखने वाली एकमात्र प्रजाति होने के चलते अर्थविज्ञान की दृष्टि से हमारी निर्मिति ही ऐसी है कि हम अपने चतुर्दिक विश्व का एक मानव-केंद्रीयतावादी दृष्टिकोण ग्रहण करें। यानी यह एक साथ इतनी अद्वितीय और इतनी स्वाभाविक बात है कि इसे एक प्रजाति के बतौर परिभाषित करने का आधार माना जा सकता है। यह ऐसी बात है, जिससे पार पाना किसी भी हाल में नामुमकिन है। दूसरे शब्दों में, जैसा कि आर्थर कोएस्लर ने एक बार कहा था, हम चूहे का मानव-केंद्रीयतावादी दृष्टिकोण

अपनाते हुए आराम से रह सकते हैं। पर मनुष्य का चूहा-केंद्रीयतावादी दृष्टिकोण अपनाने में सक्षम होते हुए भी हमारे लिए यह विशिष्ट सहजवृत्तिमूलक बात भले हो, आत्मचेतस बात नहीं हो सकती। दरअसल चूहे के मानव-केंद्रीयतावादी नजरिए के आत्मचेतस होने में या इसकी आत्मचेतनता में ही इसकी प्राप्य वस्तुपरकता निहित है, यद्यपि यह वस्तुपरकता चरम किस्म की नहीं होती। सारी दुनिया के मानव-केंद्रीयतावादी नजरिए के बारे में भी यही बात लागू होती है, लिहाजा जिस भय और आतंक के साथ जेम्स लवलॉक जैसा प्रतिष्ठित वैज्ञानिक मानव-केंद्रीयतावाद को देखता है, वह उस अशिक्षित जंगली व्यक्ति के भय और आतंक से ज्यादा परिष्कृत नहीं है, जिससे ग्रस्त होकर, जेम्स फ्रेजर के मुताबिक, वह अपनी सास को देखता है। दुर्भाग्यवश जिस किस्म के व्यवहारवाद के साथ प्रोफेसर जेम्स लवलॉक ने स्वयं को नत्थी कर लिया है, वह इतने अतिवादी किस्म का है कि उसके चलते वे मानवजाति के अस्तित्व को और उसकी मौजूदा समस्याओं को ही मान्यता देने से इनकार कर देते हैं और यह शुद्ध विज्ञान द्वारा ऐसा बोध बना पाने में विफल रह जाने की अपेक्षा कहीं बुरी बात है। यानी यह कचरे के पहाड़ों से भी बुरी बात है, क्योंकि यह उन समस्याओं से पूरी तरह ध्यान हटा देने वाली है, जिन्हें मनुष्य आज झेल रहा है।

इस पूरी बहस में मूल तत्त्व यह है कि एक सोचने वाली प्रजाति (नस्ल) होने के चलते हमारे पास इसके अलावा और कोई चारा नहीं है कि हम *मानव-आवास* की दृष्टि से गाइआ अर्थात् पृथ्वी की तीव्रतर होती और *बढ़ती* मरणशीलता पर अपना ध्यान केंद्रित करें। इसे और ज्यादा ठोस रूप में कहें तो बहुत ज्यादा हमलावर हो चुके हमारे युग के सैन्य-उपभोक्तावाद ने उस चीज का काफी बड़ा हिस्सा गड़प कर लिया है, जिसे प्रोफेसर लवलॉक एक प्रजाति के बतौर हमारा 'नियत कालखंड' कहते हैं। अब हमारे लिए शुद्ध वस्तुपरकता के जंजाल में फंसे रहने का लुत्फ उठाना संभव नहीं है। लिहाजा हमें जिस चीज के बारे में अधिकाधिक चिंतित होना चाहिए, वह चीज मानव-केंद्रीयतावाद का कलंक नहीं बल्कि वैज्ञानिकतावाद का कलंक है। ऐसा इसलिए कि यही वह चीज है जो गैरजिम्मेदार सत्ता की आक्रामकता की पर्यावरणीय और सामाजिक-आर्थिक परिणतियों से हमारा ध्यान पूरी तरह हटा देती है।

जब हमारे परिवेश का बहुत घातक और अंतहीन क्षरण हो रहा हो और इसके चलते हमारे ऊपर विनाश की छाया मंडरा रही हो, ऐसी हालत में यह जरूरी है कि 'विज्ञान की किरणें' आज मनुष्योन्मुख गाइआ की महत्वपूर्ण प्रासंगिकता की

उभारना शुरू करें क्योंकि लगातार जारी पर्यावरण-क्षय इतना कुरूप तथ्य है कि जब हम अपने अस्तित्व पर मंडराते खतरे पर ध्यान केंद्रित करते हैं तो गाइआ परिकल्पना की शक्ति और उसके सौंदर्य को बढ़ा देने में वह असरदार भूमिका ग्रहण कर लेता है। इस बारे में इतनी बातें तो हक्सले भी कहते।

जिस बात पर ज्यादा जोर देने की जरूरत है, और जिस पर आज भी पर्याप्त जोर नहीं दिया जा रहा है, वह है मानव-आवास की दृष्टि से गाइआ का अत्यंत और लगभग प्राणघातक रूप से कमजोर होते जाना। इस संदर्भ में देखें तो गाइआ अंशतः खुला तंत्र ही है। वह अपना भोजन—सौर ऊर्जा—अपने से बाहर के एक ग्रह से प्राप्त करती है, यह तो ठीक है, पर वह अपना सैन्य-उपभोक्तावादी कचरा अपने से बाहर के किसी पर्यावरण में नहीं फेंक सकती न ही वह इस कचरे को किसी भी तरह अपने लिए अहानिकारक बना सकती है। कोई आश्चर्य नहीं कि यह कचरा अंतहीन रूप से इकट्ठा होता चला जाए और एक स्थिति ऐसी आ जाए कि यह गाइआ के चक्रों में हस्तक्षेप करने लगे और इसके साथ ही जुड़े हुए मानव आवास के तहस-नहस को भी अंजाम दे दे।

एक सामान्य मोटर कार हर साल अपने वजन के बराबर कार्बन मोनोऑक्साइड और दूसरे प्रदूषक तत्व हवा में उगल देती है; और सूचना ऐसी है कि दुनिया भर में आज पचास करोड़ से ज्यादा कारें हैं। कीटनाशकों के अवशेष अमरीकी धाय माताओं के दूध से लेकर अंटार्कटिका में पेंग्विन के मांस तक सारी दुनिया में पाए गए हैं। दरअसल एक दौर में धाय माताओं के दूध में डीडिट्री का विषैलापन इतना ज्यादा बढ़ गया था कि अंतरराज्यीय व्यापार के दौरान इसे गाय का दूध बताकर बेचने को अवैध करार दिया गया था। टस्कालूसा जल-स्रोत का (जो अल्बामा से लेकर उत्तरी केरोलिना तक पेयजल का प्रमुख स्रोत है) रेडियोधर्मी विषैलापन भी एक चेतावनी की बात है। लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका जैसे एक प्रकृति विरोधी उपभोक्ता समाज को दानव की तरह आतंकित करने वाला कचरा जमा होते जाने के संकट की विराटता और गंभीरता का आज जो प्रतीक है, वह है न्यूयॉर्क के स्टेटेन द्वीप में स्थित 300 एकड़ क्षेत्र में फैला 130 फीट फीट ऊंचा कचरे का ढेर—फ्रेश किल्स। यह पहले से ही संसार का सबसे बड़ा कचरे का ढेर घोषित है और इसके बावजूद यह लगातार बढ़ता चला जा रहा है। अगर इसे साफ करना हो तो यह समूची पनामा नहर को दो बार भर सकता है। अब इसे पर्यटक-आकर्षण का केंद्र बनाया जा रहा है। पर्यटक यहां से जो भी चाहें ले जाएं—इसके लिए उन्हें कोई फीस नहीं देनी पड़ेगी, बल्कि उन्हें इसके

लिए प्रोत्साहित किया जाएगा। लेकिन गाइआ सिद्धांत की मूल बात यह है कि लोग इन भदे स्मृति-चिह्नों को चाहे जहां ले जाएं, पर वे पृथ्वीतंत्र के भीतर ही रहेंगे। जैसा कि कवि विलियम एम्पसन ने साठ साल पहले कहा था; वह आज भी, पहले से कहीं ज्यादा उचित और अभिशापमूलक लगता है: 'कचरा बच जाता है; कचरा बच जाता है और जान ले लेता है।' अगर वे यही बात आज लिखते तो शायद इसे यूँ कहते: कचरा बच जाता है और जान ले लेता है क्योंकि गाइआ इससे निजात नहीं पाती है।

इस मुद्दे की अत्यंत खतरनाक स्थिति को ठीक से समझने के लिए हम मानव-शरीर को याद करें। यह *दोनों छोरों से खुला* हुआ एक तंत्र है। ऐसा इसलिए, कि यह अपने से बाहर के एक परिवेश से भोजन ग्रहण करता है और मल पदार्थ को उसमें से निकाल बाहर करता है। यानी यह खुले छोर वाला तापगतिकीय तंत्र है, यह सांस लेता है और सांस छोड़ता है, द्रव ग्रहण करता है, द्रव निकालता है। लेकिन जहां तक उत्सर्जन का सवाल है, गाइआ बिल्कुल बंद है। गाइआ उस तरह हवा भी निकाल नहीं सकती, जिस तरह बहुत छोटे जीव अपने भीतर-अपने तलों द्वारा उत्पादित होने वाली मीथेन को बाहर करने के लिए निकाला करते हैं। लिहाजा सारे अत्यधिक विषैले पेट्रोकेमिकल, न्यूक्लियर और अन्य सैन्य-उपभोक्तावादी कचरे इसके भीतर जमा होते जाएं—इसका कोई निस्तार नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि कम से कम मानव-आवास की दृष्टि से गाइआ की एक बहुत गंभीर और नाभिनालबद्ध सीमा ऐसी है कि हम अपने लिए बहुत बड़ा संकट मोल लेकर ही उसे अनदेखा कर सकते हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो हमने कभी उस समस्या के बारे में सुना भी नहीं होता जिसे प्रदूषण कहते हैं।

इस संदर्भ में देखने पर उपभोक्तावाद और सैन्यवाद दोनों को ही सहज रूप से निहायत जंगली, मूलतः आत्महंता और सर्वथा अतार्किक कामलीलाओं के बतौर देखा जा सकता है। और इसके बावजूद अतार्किकता का सम्मोहन ऐसा है कि संयुक्त राज्य अमरीका जैसा समाज, (जो हर साल बाइस करोड़ टायर और 1.6 अरब कलमें फेंकता है और 18 अरब इस्तेमाल करके फेंक देने वाले डायपर इस्तेमाल करता है) दूसरे देशों के लिए ऐसा आदर्श बना हुआ है जिससे वे ईर्ष्या करते हैं और बंदर की तरह उसकी नकल करते हैं।

संस्कृति शिक्षा और लोकतंत्र

मौत की सनसनी पर कान दो
नजरें टिका दो मौत की मीनारों पर
शोर मचाओ होशियार! होशियार!!
ठीक वैसे ही जैसे यरुशलम में एंजेकिएल
एक बार फिर आ खड़ा हो
अपनी गली के नुक्कड़ पर।

आरोन क्रेमर

1. भूमिका

‘शिक्षा’ और ‘लोकतंत्र’ जैसे शब्दों का जितने बड़े पैमाने पर, जितनी आसानी से और जानबूझकर (प्रच्छन्न उद्देश्य के साथ) दुरुपयोग होता है उसे देखते हुए इस्तेमाल करते समय इन शब्दों के प्रति बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए, लेकिन ज्यादातर लोग ऐसी सावधानी नहीं बरतते। यही नहीं जब इनका व्यवहार किया जाता है और उसमें जो लापरवाही बरती जाती है, अकसर विद्वान लोग भी उस लापरवाही को अनदेखा कर जाते हैं। यह बात चिंताजनक है क्योंकि इसके चलते यथार्थ की दुनिया और अवधारणाओं की दुनिया में एक अनिवार्य विसंगति पैदा होती है जो विचारविमर्श की उपलब्धियों को अधिकाधिक तुच्छ, अप्रासंगिक और प्रति-उत्पादक बनाती जाती है। इससे भी गंभीर बात यह है कि इसके चलते शासक या कि नाशक वर्गों को बराबर ऐसे भ्रम पैदा करने की सामग्री मिलती रह सकती है जो उनके सत्ता में जमें रहने के लिए जरूरी होती हैं।

इस प्रकार के नतीजों से बचने के लिए हर किसी को अपने शब्दों के इस्तेमाल में, जहां तक बन सके, हर तरह की सावधानी बरतनी चाहिए। नोम चोम्स्की इसे ‘धोखाधड़ी और नियंत्रण से बचने के लिए जरूरी बौद्धिक आत्मरक्षा की प्रणाली’

कहते हैं,¹ मेरे ख्याल से इस बात को उसका महत्वपूर्ण अंग बन जाना चाहिए। दरअसल 'शिक्षा' और 'लोकतंत्र' को लेकर जो खतरनाक भ्रम (कनफ्यूजन) बना हुआ है उसे खत्म करने के लिए इन दोनों को ही इस चीज के विश्लेषण के साथ में देखा जाए जिसे नृतत्वशास्त्री 'संस्कृति' कहते हैं और ये दोनों चीजें जिसकी महज सह-प्रक्रियाएं हुआ करती हैं। चूंकि यह महज सह-प्रक्रियाएं हैं लिहाजा अपने आप में ये चाहे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हों, सही तरीके से पकड़ में तभी आ सकती हैं, जब इन्हें संस्कृति की मुख्य प्रक्रिया के तहत देखा जाए। कहने का मतलब यह सुझाना कतई नहीं कि 'संस्कृति' शब्द द्व्यर्थकता और विभ्रम से पूरी तरह मुक्त है, और ऐसा होना संभव भी नहीं है। फिर भी इसी के ज़रिए वह एकमात्र संदर्भ हासिल किया जा सकता है जिसके तहत शिक्षा और लोकतंत्र का कोई गैर-चलताऊ (यानी गंभीर) और सार्थक विश्लेषण किया जा सके। बहरहाल संस्कृति को इस मकसद के लिए तैयार करना कोई आसान काम नहीं है। सब विचारक इस बात पर तो सहमत हैं कि मनुष्य एक सांस्कृतिक प्राणी है लेकिन खुद इस संस्कृति को कैसे परिभाषित किया जाए, इस पर उनकी सोच स्पष्ट नहीं दिखती। इस मामले की प्रकृति समझने के लिए ए.एल. ब्रोवर और क्लाइड क्लकहान द्वारा 1952 में प्रकाशित और बारबार उद्धृत की जाने वाली उस समीक्षा (रिव्यू) को देखा जा सकता है जिसमें उन्होंने संस्कृति की अवधारणाओं और परिभाषाओं का सार-संकलन प्रकाशित किया था। इसे पलटकर कोई भी संस्कृति की अवधारणा को कुछ मूल बातों पर केंद्रित संदर्भ देने के लिए और इस तरह इस पर छाए धुधलके से संस्कृतिशास्त्र को मुक्त करने के लिए प्रेरित हो सकता है। गौरतलब है कि इस रिव्यू में क्रोबर और क्लकहान ने 1971 में एडवर्ड टाइलर द्वारा किए गए इस क्षेत्र के महत्वपूर्ण काम के बाद से आई संस्कृति की उन 164 परिभाषाओं को संकलित किया है जो नृतत्वशास्त्रियों, समाजविज्ञानियों, मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकों द्वारा दी गई है। उनका कहना है कि उनकी किताब में संस्कृति की कुल लगभग 300 'परिभाषाएं' मौजूद हैं।² मैं नहीं जानता कि उनकी इस बात में परिभाषाएं शब्द उद्धरण चिह्न के भीतर क्यों हैं। अगर हम यह मानें कि उन्होंने संस्कृति की अवधारणा के आम इस्तेमाल और इसके व्याख्यात्मक महत्व को देखते हुए इसे उसी तरह लिया होगा जैसे चिकित्साशास्त्र में बीमारी³ और जीवविज्ञान में विकास को लिया जाता है, तो परिभाषाओं का ऐसा ढेर उन्हें शर्मनाक या कम से कम थोड़ी परेशानी पैदा करने वाला लगा होगा। लेस्ली हाइट ने अमरीकन एंथ्रोपोलाजिस्ट में इस किताब का रिव्यू करते हुए बल

देकर यह बात कही थी कि संस्कृति संबंधी अवधारणाओं के बहुविध रूप होने के चलते स्पष्टता नहीं बल्कि विभ्रम ही बढ़ा है।⁴

इस सूत्र के मुताबिक चूंकि संस्कृति की परिभाषाओं के बढ़ते जाने की अंतहीन प्रक्रिया रुकी नहीं है लिहाजा इससे संबंधित भ्रम भी बढ़ता गया है। यही वजह है कि सामाजिक नृतत्वशास्त्र और दूसरे सामाजिक विज्ञान छोटी और तुच्छ बातों को लेकर परेशान हैं लेकिन सामने मौजूद निर्मम और संपूर्ण यथार्थ को अनदेखा करते जा रहे हैं। इस तरह संस्कृति के कारोबारियों द्वारा इसकी परिभाषाओं में अंतहीन बढ़ोत्तरी से हमारे अनूठे समय और स्थिति की व्याख्या को लेकर उनकी सतत् निश्चिंतता के अलावा और कुछ ज़ाहिर नहीं होता। हमारी नस्ल के विकास के पूरे इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ है कि हम आगे भी इसका जारी रहना तय मानकर नहीं चल सकते। इस समस्या पर चिंतित होने के मुकाबले में किसी और समस्या के प्रति चिंतित रहना श्रीमती जोन राबिंसन के शब्दों में 'मुद्दे से बिल्कुल अलग-थलग'⁵ बात होगी। इसके बावजूद एकेडमिक सामाजिक विज्ञान हमारे युग के इस मूल प्रश्न को अनदेखा करता रहा है और ऐसा करते हुए उसने वे सारी चीजें गढ़ डाली हैं जो 'मुद्दे से बिल्कुल अलग-थलग' हैं।

इसका स्वाभाविक अर्थ यह निकलता है कि अगर हमें संस्कृति की शिक्षा और लोकतंत्र के गहरे विश्लेषण का संदर्भ बनाना है तो सबसे पहले इस पर लिपटी अवधारणाओं की वह केंचुल साफ करनी होगी, जिसने इसे बुरी तरह दूषित कर दिया है। मेरे खयाल से सफाई का अकेला असरदार तत्व है मौजूदा यथार्थ का सचेत, सुसंगत और संपूर्णता में बोध। लेकिन इसके लिए मुख्यधारा की उस बौद्धिकी से पूरी तरह नाता तोड़ना होगा जो संपूर्णतावादी सोच के ज्ञानमीमांसीय महत्व को स्वीकारने के लिए कभी तैयार नहीं हुई है। इसके बजाए यह घृणित रूप से गैरजिम्मेदार सत्ता गुटों के पृथ्वी नाशक कारनामों के प्रति और राजनीतिक वैधता के वर्तमान संकट के प्रति आंख मूंदे पड़ी है। यह सरलीकरणवादी (रिडक्शनिस्ट) की सोच के अलावा किसी और सोच की संभावना को ही नकार देने में जुटी रहती है। संपूर्णतावादी सोच को यह परस्पर विरोधी दो शब्दों का समूह मानती है इसलिए उसे खारिज कर देती है। यहां इस बात पर जोर देना ज़रूरी है कि सरलीकरणवाद (रिडक्शनिज्म) जिसे अमूर्तन के रूप में समझा जाता है, विचारविमर्श की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। लेकिन अमूर्तनवाद को यदि अति-सरलीकरण और तुच्छीकरण की लत के बतौर लिया जाए तो यह विचारविमर्श को केवल कुंद कर सकता है। यह प्रश्न में मौजूद समस्या के अति सरलीकरण से शुरू करता है, इसका समाधान

इस या उस मशीनी ढांचों में ढूँढ़ने की कोशिश करता है और इसके लिए ऐसे निर्मम और अनन्य विमर्श का प्रयोग करता है जिसके नतीजे अनिवार्यतः भयावह हुआ करते हैं। मसलन आज की ये अवांछित सत्ताएं और इनके चिंतक 'प्रतिरक्षा' के प्रश्न को हर जगह सिर्फ सैन्य शब्दावली में समझते हैं और इस क्रम में ज्यादा से ज्यादा हथियार हासिल करने की होड़ में पूंजीवादी और हाल तक के समाजवादी—दोनों ही किस्म के अर्थतंत्रों का दिवाला निकाल देती हैं। इसी तरह अर्थशास्त्री और आर्थिक प्रबंधक 'विकास' का अर्थ महज प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि के बतौर लेते हैं और बड़े बांधों जैसे उपायों में इसके लिए रास्ता तलाशते हैं। सैन्य रणनीतिज्ञों द्वारा हथियारों की खरीद जैसे उपायों की तरह ही ये बांध भी मशीनी ढांचों भर हैं जो साठ-सत्तर साल से ज्यादा चलने वाले नहीं पर इतने ही समय में जंगलात के लंबे-चौड़े इलाकों को हमेशा के लिए बर्बाद कर देने के लिए काफी हैं। लेकिन ऐसे लोग जिनका धंधा ही ऐसे मशीनी ढांचों को बाजार में लाते रहना है, दरअसल इसी लिहाज से तैयार किए गए हैं कि दूसरा पहलू उनकी नज़र में ही न आए, सिद्धांत और व्यवहार दोनों ही दृष्टि से यह सरलीकरणवाद (रिडक्शनिज्म) किसी गंभीर बीमारी से कतई कम नहीं है और इसके इलाज के अलावा इसे एक नाम भी दिया जाना जरूरी है। एच.डब्ल्यू. फाउलर से एक शब्द उधार लेते हुए हम इसे अमूर्तन का रोग (एक्स्ट्रेक्टिडिस) कह सकते हैं।

विद्वानों के ध्यान में यह बात नहीं आई है कि यह बीमारी कार्ल पापर ने दी है और आज इसको ठीक से रेखांकित करने की जरूरत है। कार्ल पापर हमारे समय के सर्वाधिक प्रभावशाली सरलीकरण करने वालों में से एक हैं। वे 'पीस मील टेक्नालोजी' को अमल में लाने की वकालत करते हैं जिसे मैं 'पीस मील टेक्नोमेनिया'⁶ कहना चाहूंगा। पापर का सरलीकरणवाद उस चीज के सामने पूरी तरह हथियार डाल देने के अलावा और कुछ नहीं है जिसे बर्ट्रैंड रसेल 'अभी और यहीं' (यानी अति तात्कालिकता) की तानाशाही कहते थे। सरलीकरण करने वाला (रिडक्शनिस्ट) या टेक्नोमैनिक संकीर्ण और तात्कालिक को छोड़कर और किसी बात के बारे में चिंतित होने से नफरत करते हैं। और 'बुद्धि' के इस चरम अभाव को 'मानव जीवन के उद्देश्यों की जानकारी' के साथ संलग्न एक 'व्यापक दृष्टि' समझा जाता है। वे ऐसी हर चीज से इनकार करते हैं जिसका संबंध वहां और आगे से होता है। लेकिन मानव जीवन की समग्रता के नज़रिए से इस किस्म की संकीर्ण मनोवृत्ति और अदूरदृष्टि के भारी विध्वंसक परिणाम हो सकते हैं। वैज्ञानिकों

को अपना काम शुरू करने से पहले उसके ऐसे परिणामों को जरूर ध्यान में रखना चाहिए। अगर एक बार वे मानव जीवन के लिए पृथ्वीतंत्र की समग्रता को सर्वोच्च मूल्य मानते हुए इसे अपने लिए लक्ष्मण रेखा बना लेते हैं तो ऐसी किसी भी मुहिम में वे शामिल होने से मना कर देंगे जो किसी भी हद तक विश्वविनाश के लिए जिम्मेवार हो। जो भी वैज्ञानिक महज अनुसंधान अनुदान (रिसर्च ग्रांट) के लिए बगैर कुछ सोचे-समझे हिलाए ऊपर वालों का आदेश लागू करना स्वीकार कर लेता है, वह अपने काम को ज्ञान की खोज से इतर उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किए जाने की अनुमति भी दे देता है। निश्चित रूप से यह ज्ञान बुद्धिमत्तापूर्ण न होगा, इस बात को इससे ज्यादा जोर देकर कहना मुमकिन नहीं। यह सुनिश्चित करने के लिए कि उसकी ज्ञान की खोज अज्ञान के प्रसार के अत्यंत खर्चीले और भयानक काम में पतित न हो जाए, एक वैज्ञानिक को परियोजनाओं (प्रोजेक्टों) की मौजूदा बाढ़ में 'नहीं' कहने के लिए भी तैयार होना होगा। अगर वह ऐसा नहीं करता और सत्ता जो कुछ उससे कराना चाहती है, उस सब के लिए यदि वह 'हां' ही कहता है तो इस तरह वह बुद्धिहीन ज्ञान के विकास का रास्ता चुनता है। मेरे खयाल से ऐसा ज्ञान जिसे, और सिर्फ जिसे यह सरलीकरणवाद (रिडक्शनिज्म) विकसित करता है, अज्ञान का सबसे खतरनाक रूप है। इसका शिकार कोई व्यक्ति इतना तक जानने में असमर्थ हो जाता है कि वह हमारी समूची प्रजाति के भविष्य को किस किस्म का नुकसान पहुंचा रहा है।

ऐसा एक खास मामला उस परमाणु के रहस्य को खोलने का है, जो विभाजित हो जाने के बाद अब परमाणु नहीं रह गया है। कोई समय था जब ऐसी चीज की संरचना जानना, जो कि अविभाज्य हो (ग्रीक लोग इसे एटमांस कहते थे) जायज वैज्ञानिक जिज्ञासा का विषय था। लेकिन आज कोई ऐसी बात नहीं है। दरअसल काफी पहले से वैज्ञानिक जिज्ञासा की जगह वैज्ञानिक उत्तरदायित्व का प्रश्न केंद्रीय महत्व का हो गया है। बर्ट्रैंड रसेल ने उन्हें एक बार याद दिलाया था, "निरुपित ज्ञान पिपासा से आप परमाणु संरचना का अध्ययन करते हैं, और अनजाने ही शक्तिशाली पागलों के हाथ मानव विनाश के औजार भी सौंप देते हैं।"⁷ एक बार यह हो जाने पर पागलों का राज हो जाता है और खजानों पर नियंत्रण के चलते वे पहले से कहीं ज्यादा यह तय करने लगते हैं कि वैज्ञानिकों को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। अगर ज्ञान को वैज्ञानिकों का वैचारिक पेशा और उनका विशेषाधिकार बने रहना है तो ऐसी कई एक जिम्मेदारियों को उन्हें अस्वीकार करना ('नहीं' कहना) होगा जो सत्ताधारी उन पर डालना चाहेंगे।

आइंस्टीन ने जिसे एक बार 'परमाणु की उन्मुक्त शक्ति' कहा था, उससे होने वाले नुकसान की संभावना 'नहीं' कहने की इस क्षमता की ही मांग करती थी। यह बिंदु अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि आज संस्कृति और साथ में शिक्षा और लोकतंत्र का जो ध्वंस हम देख रहे हैं, उसकी जड़ें भयंकर हथियारों के निर्माण से वैज्ञानिकों के इनकार न करने में खोजी जा सकती है।

जाहिर है कि अगर हम इन अवधारणाओं को अपने समय से जुड़े अस्तित्व-संकट के संदर्भ में देखें तभी उस व्यर्थ के विवाद से बचा जा सकता है जिनसे आज ये घिरी हैं। तय है कि ऐसी कोशिश एक अत्यंत निर्मम परिदृश्य उपस्थित करेगी लेकिन जैसा कि टामस हार्डी ने कहा है, हमें 'सबसे बुरी संभावना को भी नजर से देखना चाहिए,' ताकि उससे बेहतर के लिए राह खोजी जा सके। तो इस तरह हम सबसे बुरी संभावना पर तीखी और पूरी नज़र रखें, मगर इस उम्मीद के साथ कि बेहतर की राह तक पहुंचने में हमें ज़रूरत से ज्यादा देर न लगेगी। यदि सरलीकरणवाद (रिडक्शनिज़्म) और उसकी खामियों के भुलावे में रह जाते हैं तो सबसे बुरी स्थिति को उसकी समूची गंभीरता में नहीं देख पाएंगे। इसके लिए हमें रेने देकार्त की निर्मम और असाधारण आलोचना की ज़रूरत पड़ेगी क्योंकि वह दर्शन के इतिहास में संभवतः महानतम सरलीकरण का माहिर व्यक्ति (रिडक्शनिस्ट) हैं: सरलीकरणवाद (रिडक्शनिज़्म) का सच्चा आर्क एंगल, जैसा कि ग्रेगरी बैट्सन ने भी लिखा है, यह देकार्तीय सरलीकरणवाद (रिडक्शनिज़्म) का निरंतर व्यवहार ही है जिससे अंशतः ही सही, पर आज की अधिकतम समस्याएं और कष्ट सीधे जुड़ते हैं।⁸ देकार्त की मृत्यु के सदियों बाद भी बर्नर हाइजेनबर्ग ने देकार्त के सरलीकरण और उसके प्रबल बौद्धिक प्रभाव की मौजूदगी को स्वीकार किया है। उनके अनुसार, 'देकार्तवाद मानव मस्तिष्क में बहुत गहरे धंस गया है और यथार्थ की समस्या के प्रति इसकी जगह इससे वस्तुतः भिन्न दृष्टिकोण ले सकें,⁹ इसमें अभी बहुत लंबा समय लगेगा।' और अंततः हम यह भी नहीं भूलें कि देकार्त का संबंध सत्रहवीं सदी से है, जिसे ए.एन. ह्राइटहेड ने कभी 'जीनियस की सदी' कहा था और यह भी कि उस दौर में जन्म लेने वाली 'वैचारिक पूंजी' को पैदा करने में देकार्त का भी बड़ा योगदान था।¹⁰ जिहाज़ा अगर हम अब पाते हैं कि हमारी समूची नस्ल के अस्तित्व के नज़रिए से वह वैचारिक पूंजी अत्यंत विनाशकारी और प्रति-उत्पादक (काउंटर प्रोडक्टिव) हो गई है तो ह. यह मांग करनी होगी कि देकार्त एक और परीक्षा के लिए सामने आए। मगर चूंकि यह परीक्षा एक सर्वथा भिन्न संदर्भ में होनी है तो इसके कुछेक प्रश्न देकार्त को अत्यंत अटपटे लगेंगे लेकिन इसके अलावा और कोई चारा नहीं है।

2. रेने देकार्त के चिंतन का 'दुष्प्रभाव'

हमारे अस्तित्व की परिस्थितियों में वह क्षरण, जिसे लेकर मैं इतनी बुरी तरह चिंतित हूं, एक लंबी प्रक्रिया है जिसकी जड़ें देकार्त के अति सरलीकरणवाद (रिडक्शनिज़्म) के उदय में खोजी जा सकती हैं। यही वजह है कि मैं रेने देकार्त के दर्शन पर कुछ वक्त लेना चाहता हूं और यह दिखाना चाहता हूं कि इसने किस तरह मानवजाति की सभ्यता-परियोजना को ऐसी विकृति का शिकार बना दिया जिस पर लोगों की नजर नहीं गई और उसका विश्लेषण भी नहीं किया गया है। इस मुद्दे के भारी महत्व और इसकी पूर्ण उपेक्षा को देखते हुए मैं उसे बहस के केंद्र में लाने के लिए एक ऐसा रास्ता चुनने को मजबूर हूं जिसे स्वयं देकार्त ने 'बिना पदचिह्नों का' और 'आम रास्ते से बहुत दूर का' रास्ता कहा होता (सी.एस.एम. II, 6)।¹¹ मुझे उम्मीद है कि इस तरह मैं यह स्थापित कर सकूंगा कि मानव सभ्यता के विलुप्त हो जाने का जो खतरा मौजूद है, उसे मिटाकर यदि स्वयं को नवजीवन देना है तो उसे सचमुच देकार्त और उसके सरलीकरणवाद (रिडक्शनिज़्म) को बहुत-बहुत गहरे दफना देना होगा। दरअसल केवल ऐसा करके ही कोई मौजूदा जड़सूत्रवाद के खिलाफ ऐसा तर्क विकसित कर सकेगा जिसे हंप्टी-डंप्टी 'धूल चटाने वाला उत्तम तर्क' कहता।

वह बेशर्म, बेझिझक, बेरहम विज्ञानवाद, जिसे रेने देकार्त ने आज से तीन सौ साल से भी ज्यादा समय पहले शुरू किया था, आज तक वैज्ञानिक विमर्श के बतौर चलन में है। यही नहीं यह हमारे समय की ज्यादातर बीमारियों के लिए तात्कालिक रूप से जिम्मेवार है जिनमें संस्कृति का, और साथ में शिक्षा और लोकतंत्र का भी निषेध शामिल है। देकार्तवाद की खास और बुनियादी बात है संपूर्ण की उपेक्षा और अंश पर केंद्रीकरण। इस अंश को भी यह संपूर्ण से पूरी तरह काटकर देखता है लिहाजा इसका अंश का बोध भी अनिवार्यतः गलत होता है। इसके बावजूद यह विखंडित और विज्ञानवादी सोच संपूर्ण को और वैज्ञानिक सोच को चलन से बाहर कर देती है।

हमारे अस्तित्व के लिए यह अत्यंत महत्वपूर्ण बिंदु है लेकिन आश्चर्य, कि कोई इसे लेकर चिंतित नहीं दिखता। देकार्त का प्रस्थान बिंदु है *कोजीतो* या ऐसी एक निश्चितता कि वह संदेह कर रहा है या सोच रहा है। यहीं से उपजती है उसकी प्रसिद्ध किंतु पूर्णतः अमान्य सूक्ति '*कोजीतो अगो सम*' (सी.एस.एम. I, 12.7) में यह इस प्रकार है 'मैं सोचता हूं इसलिए मेरा अस्तित्व है' (लेकिन मैंने

इसके आम चलन वाले, यद्यपि बिलकुल ठीक-ठीक वही अर्थ न रखने वाले अनुवाद का प्रयोग करना तय किया है। यह अमान्य इसलिए है क्योंकि अस्तित्व के यथार्थ को यह पूरी तरह उलट देती है, और बाहरी जगत पर 'मैं' को प्राथमिकता देती है। यह ऐसी बात है जिसे स्वीकार करना संभव नहीं है। बहुत पहले अरस्तू ने कहा था कि केवल कोई जानवर या फिर कोई देवता ही पूर्णतः आत्मनिर्भर होने की अपेक्षा कर सकता है; और हमारे अपने समय में जूलियन हक्सले ने यह साबित किया कि पूर्णतः अलग-थलग मस्तिष्क मात्र एक जीववैज्ञानिक बकवास हो सकता है। उनके इस कथन ने इसी बात की पुष्टि की है। *कोजीतो* वाले कथन के पीछे देकार्त का शब्दशः ऐसा कोई दावा करने का आशय न रहा हो कि उसके और केवल उसके अस्तित्व की निश्चितता असंदिग्ध थी। जाहिर है कि इसका इस्तेमाल वह अपनी *समूची* तर्कप्रणाली के लिए तत्वमीमांसात्मक प्रस्थानाबिंदु के बतौर कर रहा था। दरअसल उसका वह प्रस्थान बिंदु ही बिलकुल खोटा साबित हुआ। कोई सही तत्वमीमांसात्मक वक्तव्य ऐसा होना चाहिए जिसमें दो गुण एक साथ मौजूद हों असत्य सिद्ध हो जाना और सत्य सिद्ध न होना। जैसे श्रीमती राबिंसन का यह वक्तव्य है: 'सारे मनुष्य समान हैं', इस वक्तव्य को बचाना या इसे नष्ट करना, दोनों बातें नामुमकिन हैं। इसके बावजूद यह जन्माज विशेषाधिकारों के खिलाफ गोलबंदी का एक मुद्दा बना है और शोध का एक वाजिब कार्यक्रम पेश करता है।¹²

देकार्त का *कोजीतो* अर्गो *सम* किसी भी तरह एक सही तत्वमीमांसात्मक (मेटाफिजिकल) वक्तव्य नहीं है क्योंकि यह उन दोनों में से एक ही शर्त पूरी करता है: यह सत्य सिद्ध नहीं होता लेकिन असत्य भी सिद्ध नहीं होता। इसके ऐसा होने की वजह यह है कि एकदम व्यक्तिगत भाषा का अस्तित्व संभव नहीं है। किसी भी भाषा का एक मूल आधार जरूर होना चाहिए—जैसा कि लुडविग विटगेनस्टाइन ने कहा है, उसके पास एक आम स्वीकृत शब्दावली होनी चाहिए और इस शब्दावली के सही प्रयोग को लेकर कुछ लोक-स्वीकृत नियम होने चाहिए। इसका मतलब कोई भी, यहां तक कि देकार्त भी *किसी ऐसी* भाषा के इस्तेमाल के बिना, जो कि अपनी परिभाषा में ही *लोक माध्यम* हो, अपने *कोजीतो* में न कोई तत्व पैदा कर सकता है न लिखित, मौखिक या मौन अभिव्यक्ति के ज़रिए इसे व्यक्त कर सकता है। लिहाजा ठीक उसी क्षण जब कोई भाषा का इस्तेमाल करता है तो वह एक बाह्य विश्व को पहले से ही मौजूद मानकर चलता है, जिसमें अन्य मनुष्य—सामाजिक मनुष्य रहते हैं, जो अपनी नितांत निजी भाषा का इस्तेमाल

करने वाले ढेर सारे *कोजीतो* मात्र नहीं होते। यहां नोम चोमस्की की वह बात भी दुहराई जा सकती है कि 'दूसरे मस्तिष्कों' का अस्तित्व स्थापित करना देकार्त और उसके अनुयायियों के लिए भारी समस्या बनी रही।¹³ थोड़ा आश्चर्य होता है। एक ऐसी समस्या का हल खोजने की कोशिश बेकार की कसरत साबित होने को बाध्य है जिसका अस्तित्व ही संभव नहीं, लेकिन जिसे जैसे-तैसे न्यौत लिया गया हो। इस तरह जो चीज समस्याग्रस्त है, वह है देकार्त का प्रस्थान बिंदु, जो नितांत हास्यास्पद और तत्वमीमांसात्मक (मेटाफिजिकल) है। इसका अगर कोई मतलब है तो यही कि कोई भी समझदार आदमी अपनी *अकेली* चेतना से (जो समाज द्वारा सर्वथा अकलुषित, अप्रदूषित हो) शुरू करके बाहरी दुनिया का अस्तित्व स्थापित करने नहीं निकलेगा। उसके पास इसका कोई विकल्प न होगा कि वह अपने अस्तित्व को पहले से मौजूद बाहरी दुनिया का अभिन्न अंग माने और तब और केवल तब तत्वचिंतन की ओर बढ़े। यह बात हमें स्पेन के दार्शनिक मिगुएल द उनामुनो के साथ हो जाने के लिए, देकार्त की सूक्ति को उलट देने के लिए और इसे 'सम अर्गो *कोजीतो*' यानी 'मैं हूँ, इसलिए मैं सोचता हूँ' बना देने के लिए बाध्य कर देती है। इसके विपरीत जोर देने का मतलब है देकार्त को दुनिया से पहले ला खड़ा करना और इस तरह व्यर्थ के विमर्श के लिए बाढ़ के फाटक खोल देना।

देकार्त की *कोजीतो* की अतार्किकता देकार्तीय संदेह के विरुद्ध भी तर्क उपस्थित करती है क्योंकि दोनों की जड़ें जुड़ी हैं। देकार्त का संदेह *कोजीतो* के अलावा हर चीज़ पर संदेह करके यथास्थिति द्वारा थोपे गए और बरकरार रखे जा रहे अन्याय पर जरा भी ध्यान नहीं देता। इसका मतलब यह हुआ कि 'मैं' के अलावा बाकी हरेक चीज़ की निश्चितता से इनकार करना, तत्कालीन सत्ता की वैधता को लेकर कोई सवाल न खड़ा करने का आधार बन सकता है। कोई आश्चर्य नहीं कि इतिहास जितने दार्शनिकों को जानता है उनमें से देकार्त के पास प्रतिवाद करने की शक्ति सबसे कम थी। दरअसल उसका चरम दबूपन उससे कहीं कम प्रसिद्धि वाले व्यक्ति के लिए भी अफवाह का विषय बन गया होता। इरां इशारा करते हैं कि अपनी फ्लोरेस-यात्रा के दौरान वह गैलीलियो को देखने तक से कतराया था।¹⁴ ऐसा भी कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि इसका उसे कोई पश्चाताप हुआ हो। सब कुछ के बावजूद वह पश्चातापहीनता के युग का प्रधान अग्रदूत है। *ब्रह्मांड पर शोध प्रबंध* नाम की उसकी पुस्तक 1633 में छपने के लिए तैयार थी लेकिन इसे उसने दबा दी क्योंकि धार्मिक अदालत द्वारा गैलीलियो को सजा सुनाने की बात वह जान चुका था। यह अभी तुरंत की घटना थी और गोया इस बात को

स्थापित करने के लिए ही उसने अपने घनिष्ठ मित्र फ्रायर मैरीन मर्सिन को लिखे पत्र में कहा था: 'हवा के खिलाफ तलवार चलाना मेरा स्वभाव नहीं है।'¹⁵ इससे नतीजा निकलता है कि जिस संदेह पर देकार्त का समूचा दर्शन शब्दशः टिका है उसकी कोई ठोस अंतर्वस्तु नहीं है और वह कुछ अक्षरों की खड़-भड़ है जो बनावटी भी हो सकती है। यह वक्तव्य इस खड़-भड़ को ही जाहिर करता है: 'इस तरह मैं न सिर्फ इन बातों को लेकर अनिश्चित रहूंगा कि तुम इस दुनिया में हो या नहीं हो और एक धरती, एक सूरज है या नहीं, बल्कि इसे लेकर भी कि मेरे पास आंखें, कान और एक शरीर है या नहीं और यहां तक कि मैं तुमसे और तुम मुझसे बात कर रहे हो या नहीं। संक्षेप में यह कि मैं हर चीज़ पर संदेह करूंगा' (सी.एस.एम. II, 409)। इतने भड़भड़िया तत्वमीमांसा के चलते ऐसी कोई वजह नहीं थी कि देकार्त इस बात को लेकर भी सुनिश्चित हो कि उसके सहवर्ती एक अन्य दार्शनिक ज्योर्दानो ब्रूनो को इन पंक्तियों के लिखे जाने के चालीस साल पहले धर्मद्रोह के आरोप में खंभे से बांधकर जिंदा जला दिया गया था। लेकिन अगर वह जानता भी कि ब्रूनो को उस बात के लिए जलाया गया जिसे वह 'नैतिक सुनिश्चितता' मानता था (जिसे कि वह रोजमर्रा के कामकाज के लिए पर्याप्त सुनिश्चितता कहा करता था) तो भी उसकी दार्शनिक चेतना उतनी उत्तेजित न होती (सी.एस.एम. I, 130, 291)। खंभे से बांधकर जलाने का यह मामला उस समय तक भी यूरोप में ऐसा मंद न पड़ गया होगा। ब्रूनो को जलाए जाने से काफी पहले मीशेल द मोंतेन ने लिखा था 'सब कुछ के बावजूद अगर अपनी राय को आधार बनाते हुए लोगों को हम जिंदा भूतते हैं तो इसका मतलब यही हुआ कि अपनी राय को हम कुछ ज्यादा ही ऊंचा मूल्य देते हैं।'¹⁶ वह ऐसा कह सकता था क्योंकि घुटनों की तरह उसका सिर झुक जाने या मुड़ जाने के लिए नहीं बना था। लेकिन देकार्त का तर्क इस किस्म का नहीं था और तत्वमीमांसात्मक संदेह का इस्तेमाल वह महज उन अन्यायों की जांच-परख से कतराने के लिए कर रहा था जो तत्कालीन दुनिया को परिभाषित कर रहे थे। वह जब चाहता सुनिश्चित और समझ में आने लायक हो जाता। मसलन उसे 15 अक्टूबर 1634¹⁷ को पता चला कि उसकी अपनी बेटी फ्रांसीन एम्सटरडम में गर्भवती हो गई है। सत्ता की ओर से इस बारे में पूछताछ के वक्त उसने अपनी नैतिक सुनिश्चितता छोड़ दी और तत्वमीमांसात्मक संदेह की आड़ में दुबक गया। यह अवधारणा और आशय दोनों ही दृष्टियों से संदेहास्पद प्रतीत होता है। इस तरह देकार्त के कोजीतो की जड़ें देकार्तीय संदेह में हैं, वह चरम सरलीकरण के साथ-साथ हद दर्जे का

अनैतिक भी साबित होता है। चरम इसलिए कि वह सभी कुछ का अमूर्तन कर देता है, सिवाय 'मैं' के; यहां तक कि शरीर का भी जिसमें 'मैं' अवस्थित है; और अनैतिक इसलिए कि उसका ऐसा मानना मौजूदा अन्यायों से मुंह चुरा लेने का बहाना भर है।

फिर भी आइए तर्क के लिए हम भूल जाएं कि देकार्तीय कोजीतो तर्क में बिलकुल नहीं टिकता और देकार्त को अपनी राह निकल जाने दें। ऐसी स्थिति में तत्वमीमांसा (मेटाफिजिक्स) की दुनिया का कोजीतो यथार्थ की दुनिया के सर्वाधिक रुग्ण अहं को भी वैधता और प्रामाणिकता प्रदान कर देता है। इस तरह जहां यह 'मैं' है वहीं से देकार्त का दर्शन शुरू होता है। आत्म को मान्यता देना चौगिर्द फैली दुनिया और इसमें मौजूद "दूसरे दिमागों" को मान्यता देने की पूर्व शर्त बन जाता है और बात इस हद तक चली जाती है कि बाहरी दुनिया के अस्तित्व को पहले मानने से इनकार कर दिया जाता है और फिर इसे स्थापित करना होता है। एक तरह से सारी दुनिया को उस चिंतनशील 'मैं' के समानांतर एक चीज़ बना दिया जाता है जो यहां सर्वोच्च स्थान पर है। अगर यह सर्वोच्चता एक दार्शनिक के 'मैं' की सर्वोच्चता न हो, किसी उद्योग, व्यापार या इससे भी आगे किसी बड़े निगम या योजना आयोग जैसे समूह के अगुवा की हो तो इसके अत्यंत भयंकर परिणामों की कल्पना हम कर सकते हैं। क्योंकि 'अहं' चाहे जिस भी रूप में खुद को जाहिर करे, पर यह बात हर हाल में मौजूद रहेगी कि बाहरी दुनिया या इसके किसी हिस्से का शोषण करना या फिर इसे तोड़ना-मरोड़ना उसका विशेषाधिकार है। लेकिन जब विभाजित और शोषित दुनिया एक जटिल और जीवंत व्यवस्था के बतौर सामने आती है, जैसा कि पृथ्वीतंत्र (अर्थ सिस्टम) को जब समझा जाता है, तब भी यह चढ़ाया हुआ अहं उसे तबाह करने से बाज नहीं आ सकता। यह भी संभव है कि जब तक इसके साथ किए गए और किए जा रहे अनाचार के सारे लक्षण पकड़ में आए तब तक ग्रहीय पक्षाघात का मामला बहुत खतरनाक दौर में पहुंच गया हो। 'मैं सोचता हूं इसलिए 'मैं हूं' कहते हुए रेने देकार्त और 'मैं हूं सो मैं सोचता हूं' कहते हुए मिगुएल द उनामुनो दोनों ही इस स्थिति में बेमतलब हो जाते हैं क्योंकि अहं को लेकर चाहे जैसे भी विचार किया जाए, वह बस यही जानता है 'मैं हूं मैं हड़प कर रहूंगा।' मैं खुद लैटिन नहीं जानता लेकिन मुझे बताया गया है कि यह संकल्प भी आसानी से उस भाषा में कुछ इस प्रकार अनूदित हो जाता है 'सम अर्गो कैपियो'।

पृथ्वीतंत्र (अर्थ सिस्टम) की समग्रता के लिए यह प्राणघातक खतरा है, इससे

जरा भी कम नहीं। यह एक प्रजाति के बतौर हमारी निरंतरता सुनिश्चित करने की हमारी क्षमता में कटौती करता है और इस तरह सभ्यता की दृष्टि से सर्वनाशी स्वरूप ग्रहण कर लेता है। देकार्तवाद का उत्थान मनुष्य के अंदर मनुष्यता के पतन का परिचायक है। जैसा कि लेविस मॅफोर्ड ने कहा है, यह मनुष्य के वानर स्तर तक पतन का परिचायक है: लंगूरों की तरह वे सब कुछ नोचने-खसोटने पर आमादा हो गए हैं। संक्षेप में यह कि वे अपनी मानवीय क्षमताएं खो देते हैं और जैसा कि स्वाभाविक है, और समतुल्य किसी मानसिक संपदा का सृजन भी नहीं कर पाते।¹⁸

आइए हम अपने दिमाग को देकार्त द्वारा स्थापित उस विभाजक रेखा के अभिशाप से मुक्त करें जिसके मुताबिक दुनिया रेस कोजीतांस और रेस एक्सटेंसा में, यानी सोचने वाली वस्तु और विस्तारित वस्तु में विभाजित है। जाहिर है कि इस द्वैतवाद का आविष्कार उसने नहीं किया था। फिर भी प्लेटो द्वारा इसकी शुरुआत के बाद पहली बार देकार्त ने इसे एक ऐसी धार दी जो इसके पहले उसमें मौजूद नहीं थी। वह यह कहते हुए इसे तीक्ष्णता के चरम स्तर तक ले गया: 'शरीर की अवधारणा में ऐसा कुछ भी शामिल नहीं है जो मस्तिष्क से संबंधित हो और मस्तिष्क की अवधारणा में ऐसा कुछ भी शामिल नहीं जो शरीर से संबंधित हो' (सी.एस. एम. II, 58)। इस किस्म का अंतर अवधारणात्मक स्तर पर बरकरार रखा जा सकता है लेकिन इस स्तर पर भी कोई तर्कपूर्ण ढंग से इस बात का दावा नहीं कर सकता कि एक दूसरे से अलग रहते हुए शरीर और मस्तिष्क एक दूसरे से असंबद्ध भी हैं। कोई नहीं, यानी देकार्त को छोड़कर कोई नहीं। एक बिंदु पर जाकर यह एहसास करते हुए कि उसका शरीर और मस्तिष्क एक दूसरे से घनिष्टतापूर्वक जुड़े हैं, अगले ही वाक्य में वह ऐसा दावा भी कर देता है कि वह, यानी उसका मस्तिष्क उसके शरीर के बिना भी रह सकता है: 'यह सच है कि मेरे पास एक शरीर हो सकता है (या ऐसा पूर्वानुमान किया जा सकता है कि मेरे पास शरीर है), एक शरीर जो घनिष्टतापूर्वक मुझ से जुड़ा है। लेकिन एक तरफ मेरे पास अपने 'स्व' की इस रूप में एक स्पष्ट चेतना है कि मैं एक सोचने वाली अविस्तारित चीज हूँ, दूसरी तरफ मुझे अपने शरीर के बारे में भी स्पष्ट जानकारी है जो एक विस्तारित और न सोचने वाली चीज है। और इस तरह यह तय है कि मैं अपने शरीर से बिल्कुल भिन्न हूँ और इसके बगैर भी रह सकता हूँ।' (सी.एस.एम. II, 54)। लेकिन यह 'इस तरह' किसलिए? इसके पीछे एक स्पष्ट उद्देश्य हो सकता था कि इस तरह वह इस हास्यास्पद आकांक्षा के साथ

कि पेरिस के पवित्र धर्मशास्त्र विभाग के डीन और डाक्टर उससे प्रभावित हो जाएंगे और उसकी किताब मेडिटेशंस पर अपनी मुहर लगा देंगे, आत्मा की अमरता स्थापित कर रहा था। लेकिन वे पसीजे नहीं और संभवतः नाराज भी हुए।

वजह चाहे जो भी हो, मेरे लिए यह थोड़ा अजीब है कि प्रधान तर्कवादी माना जाने वाला एक आदमी; एक ऐसा आदमी जो इतिहास की महानतम दार्शनिक मेधाओं में से एक¹⁹ माना जाता है और जो वास्तव में आधुनिक दर्शन का संस्थापक है, इस तरह का वक्तव्य दे सकता है: 'इस तरह मैं जानता हूँ कि मैं एक ऐसा पदार्थ हूँ जिसका संपूर्ण अस्तित्व और स्वभाव सिर्फ सोचना है, और जिसे किसी स्थान की ज़रूरत नहीं, अस्तित्व के लिए किसी भौतिक चीज़ पर निर्भर रहने की ज़रूरत नहीं। इस तरह यह 'मैं' यानी वह आत्मा जिसके चलते मैं, मैं हूँ, शरीर से पूरी तरह भिन्न है और शरीर की अपेक्षा इसको जानना ज्यादा आसान है तथा अगर शरीर न हो तो भी यह रहेगा' (सी.एस.एम. I, 127 जोर मेरा है)। इस उद्धरण में इटैलिक अंश का अर्थ सिर्फ यह निकलता है कि सोचने के लिए दिमाग की ज़रूरत नहीं है या बेहतर है इसे यूँ कहें कि दिमाग के लिए दिमाग की ज़रूरत नहीं।

मैं कोई दार्शनिक नहीं, लिहाजा यह नहीं जानता कि ऐसे दावे को कितना दार्शनिक महत्व दिया जाना चाहिए। लेकिन यह जानता हूँ कि जान काटिंधम, एक दार्शनिक हैं और आज देकार्त पर अधिकृत विद्वान माने जाते हैं, देकार्त की कुछेक दार्शनिक रचानाओं का अनुवाद भी किया है। वे इन बातों को 'अनर्गल' मानते हैं।²⁰ नोम चोमस्की ऐसी किसी समस्या से बचने के लिए 'माइंड' के बारे में बात न करके 'माइंड ब्रेन'²¹ के बारे में बात करते हैं। लेकिन अगर उस ऐतिहासिक परिवेश को ध्यान में रखें जिसमें देकार्त जी रहा था, तो मस्तिष्क की पहचान और स्वायत्तता पर उसका जोर, सोचने वाले 'मैं', कोजीतो पर इस हद तक जोर कि वह इतना आत्मस्थ और आत्मनिर्भर हो जाए कि दिमाग जैसी भौतिक वस्तु भी उसके लिए ज़रूरी न रह जाए, इस लिहाज से ज़रूरी लग सकता है कि इसके ज़रिए वह उस अतार्किकता के राज से टकराता रहा होगा जो जड़ सामंती सत्ता और कैथलिक चर्च के जड़सूत्रों तथा तत्कालीन यूरोप में व्याप्त अंधविश्वासों के बतौर फैला था। लेकिन यह एक विडंबना है कि वह तार्किकता और व्यक्तिवाद जिसके उदयकाल में वह खड़ा हुआ, हमारे समय तक आते-आते विक्षिप्तता की ऐसी तानाशाही में बदल गया है कि हम मानव इतिहास की निरंतरता को लेकर भी आश्वस्त नहीं रह गए हैं।

हो सकता है ऐसा रहा हो, पर देकार्त की मुख्य समस्या यह थी कि वह अपनी औकात भर ऐसा सब कुछ करे जो उसके समय के 'आत्मावान' धर्मशास्त्रियों को उस पर कोपटृष्टि डालने के बजाए उसे संरक्षण देने के लिए प्रेरित करें। फिर भी जब उसे मौका मिलता, चोरी छिपे ऐसे दो-एक शब्द घुसा देता: किसी भी समझदार आदमी ने कभी इन बातों पर संदेह न किया होगा कि एक दुनिया वास्तव में मौजूद है, और मनुष्यों के पास शरीर होते हैं...वगैरह'। और यह भी कि दिमाग और शरीर सर्वथा भिन्न होने के बावजूद 'इतनी घनिष्टता से जुड़े हैं कि दोनों मिलकर एक किस्म की इकाई का निर्माण करते हैं' (सी.एस.एम. II, 11)। लिहाजा ऐसा 'स्वांग करने' के निश्चय के बावजूद कि इसके पास शरीर नहीं है और यह कि कोई दुनिया भी नहीं है और ऐसी कोई जगह भी नहीं जिसमें कि उसका वास है, वह स्पष्टतः देख सकता था कि 'सोचने के लिए होना जरूरी है' (सी.एस.एम. I, 127)। और अंततः 'पीड़ा, भूख, प्यास और ऐसी अन्य अनुभूतियों के ज़रिए प्रकृति मुझे यह सिखाती है कि मैं अपने शरीर में महज उसी तरह मौजूद नहीं हूँ जैसे जहाज में जहाजी। बल्कि यह कि इससे मैं बहुत घनिष्ट रूप से जुड़ा हूँ, यह कि मैं और मेरा शरीर इस तरह आपस में धुले-मिले हैं कि दोनों मिलकर एक इकाई बनाते हैं' (सी.एस.एम. I, 56, जोर मेरा है)। यह थोड़ा आश्चर्यजनक है कि उसकी जोरदार आस्तिकता और इस दावे के बावजूद कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिए गए उसके प्रमाण ऐसे हैं कि 'इस बात की कोई गुंजाइश ही नहीं कि मानव मस्तिष्क कभी इसका इनसे बेहतर प्रमाण खोज ले' (सी.एस.एम. II, 4) चर्च ने उसकी मृत्यु के बाद भी (मृत्यु 1650 में हुई) उसे दंडित करना जरूरी समझा और 1663 में उसकी किताबों को *इंडेक्स लायब्रोरम प्रोहिबिटोरम* यानी प्रतिबंधित पुस्तकों की सूची में डाल दिया। ऐसा इसलिए कि ईश्वर की उस बौद्धिक अवधारणा का, जिसका प्रचार देकार्त कर रहा था, चर्च के लिए कोई उपयोग ही न था, यद्यपि कई-एक मामलों में जैसे कि पशुओं को ईश्वर के हाथों बने स्वचालित यंत्र बताते हुए (सी.एस.एम. I, 139) वह मान्यता प्राप्त धार्मिक रूढ़ियों को ही दुहराया करता था।

देकार्त के साथ जो बात महत्वपूर्ण है वह है *रेस कोजीतांस* यानी सोचने वाली चीज की पहचान, जो मनुष्य में मौजूद सर्वथा अद्वितीय गुण है। 'मैं मात्र एक ऐसी चीज हूँ जो सोचती है; यानी कि मैं एक दिमाग हूँ या बुद्धिमत्ता हूँ या बुद्धि या फिर तर्क—ये ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थों से मैं अभी तक अपरिचित हूँ।' लेकिन इसके बावजूद मैं एक ऐसी चीज हूँ जो वास्तविक है और सचमुच अस्तित्वमान

है। लेकिन यह कैसी चीज है? जैसा कि मैंने अभी कहा, एक सोचने वाली चीज' (सी.एस.एम. II, 18 जोर मेरा है)। यहां देखा जा सकता है कि वह खतरनाक हद तक चर्च पर यह आरोप लगाने के करीब पहुंच गया है कि चर्च ने अपने प्रभाव के तहत, उसे और दूसरों को भी तर्क और बुद्धि के अद्वितीय इनसानी तोहफों से अनजान रख छोड़ा है। गोया इसकी भरपाई करने के लिए ही वह सोचने वाली चीज, या दूसरे शब्दों में आत्मा के मानव शरीर के बगैर भी बने रहने की बात को बार-बार दुहराता है, जिसका लगभग निश्चित अभिप्राय चर्च को फायदा पहुंचाना था। इसीलिए किसी ने इस बात को गंभीरता से नहीं लिया, खुद उसने भी नहीं। कोई आश्चर्य नहीं कि उस पर अकसर ढोंगी, बिना रीढ़वाला और कपटपूर्ण व्यवहार के आरोप लगे, और कभी-कभी ये सच भी होते थे।²²

सोचने वाली चीज को देकार्त इस रूप में परिभाषित करता है कि यह 'एक ऐसी चीज है जो संदेह करती है, समझती है, स्वीकारती है, नकारती है, इच्छा करती है, अनिच्छा करती है, कल्पना करती है और संवेदना बोध रखती है।' लेकिन 'स्वीकारने' का 'नकारने' के साथ और 'इच्छा' का 'अनिच्छा' के साथ जोड़ा लगाते हुए वह 'समझाने' का 'गलत समझने' के साथ और 'बोध' का 'गलत बोध' के साथ जोड़ा नहीं मिलाता और इस तरह समझ और गलत जैसी बातों को 'सोचने वाली चीजों' की परिभाषा के दायरे में नहीं लाता। यह थोड़ी अजीब बात लगती है। बाद में 'थर्ड मेडिटेशन' में इसका पुनरुल्लेख करते हुए वह इन शब्दों को इसमें शामिल करता है 'कुछ चीजों को समझती है, अन्य चीजों के बारे में अनजान रहती है' और फ्रेंच संस्करण में 'प्रेम करती है, घृणा करती है' (सी.एस.एम. II, 24)। इसके अतिरिक्त वह बड़ी शिद्दत से *किसी ऐसे अपार शक्ति और धूर्तता वाले दुष्ट दानव को लेकर परेशान है जिसने अपनी सारी ताकत उसे धोखा देने में लगा रखी है* (सी.एस.एम. II, 15 जोर मेरा है)। लिहाजा स्वाभाविक है कि 'गलत समझना' भी सोचने वाली चीज की उसकी परिभाषा का अभिन्न अंग होना चाहिए। क्योंकि अगर वह दानव तय कर लेता है तो वह सोचने वाली चीज को पूरी तरह बेकार बना देगा और उसके सामने देकार्त पूरी तरह अभागा और बेचारा बनकर रह जाएगा। संयोगवश आज जिस किम्म की दुर्दशा से हम गुजर रहे हैं, वह इसकी साक्षी है कि सोचने वाली चीज बेकार हो चली है, और वह भी काफी हद तक। लेकिन ऐसा लगता है कि देकार्त ने कभी यह न सोचा होगा कि सोचने वाली चीज वास्तविक दुनिया में लाए जाने के बाद इस तरह न सोचने वाली चीज का, मस्तिष्कहीनता का मूर्त रूप हो सकती है। यह रूपांतरण या यूँ कहें पतन ही

एकमात्र बात है जो उन संकटों की व्याख्या करती है, जिनसे एक जाति के बतौर हम घिर गए हैं।

अब जाकर यह महसूस किया जा रहा है, और वह भी आमतौर पर नहीं, कि *होमो सीपिएंस* अब *होमो इनसीपिएंस* हो चुके हैं। फिर भी यह बेदिमागी कोई बीसवीं सदी की खोज नहीं है। देकार्त ने यह तो समझा कि बौद्धीकरण मनुष्य तक ही सीमित है और यही उसे परिभाषित करने वाला गुण है किंतु वह यह सोच पाने में विफल रहा कि अबौद्धीकरण भी पूर्णतया मानवीय विशिष्टता ही है और ऐसा कोई उपाय नहीं जिसके जरिए इन दोनों प्रक्रियाओं को एक ही खांचे में फिट किया जा सके। जो सोचने वाली चीज गांधी से संबद्ध थी, उसकी कोई भी साझेदारी उस विचारहीन चीज के साथ नहीं हो सकती, जो उनके हत्यारे से संबद्ध थी। अगर इनमें से एक पूर्णतया मानवीय गुण है तो दूसरी पूर्णतया मानव-विरोधी दुर्गुण। संभवतः इसका कोई औचित्य नहीं कि एक पर जोर देने में दूसरे को भूल जाया जाए क्योंकि मानव-विरोधी दुर्गुणों के मानवीय गुणों पर भारी पड़ते जाने के चलते आज हमारी पूरी प्रजाति के नष्ट हो जाने का खतरा पैदा हो गया है। सिर्फ कोई घुटा हुआ सरलीकरण का माहिर और अतिसरलीकरण का लाइलाज ही इन दोनों का *रेस कोजीतांस* के अकेले खांचे में फिट कर सकता है। यह बिलकुल स्वीकार्य नहीं लगता। निस्संदेह उन परिस्थितियों के बीच कोई मौलिक और महत्वपूर्ण अंतर जरूर होना चाहिए जो बुद्ध की सोचने वाली चीज का चंगेज खां की सोचने वाली चीज से, अंतानियो ग्राम्शी वाली चीज को बेनितो मुसोलिनी वाली चीज से और नोम चोम्स्की वाली को एडवर्ड टेलर वाली चीज से अलग करता हो। यह सोचने वाली चीज सिर्फ उसी अर्थ में पूरी तरह से निरपेक्ष होनी चाहिए जैसा निरपेक्ष वह लोहे का टुकड़ा होता है जिससे चाहें तो आप तलवार बनाएं और चाहें तो हल के फाल। अंत में ऐसा दर्शन जो जैविक रूप से सृजित और निरपेक्ष सोचने की क्षमता से शुरू करता है और वहीं पड़ा रह जाता है, उन सामाजिक ऐतिहासिक और शैक्षणिक कारकों पर ध्यान देने से इनकार कर देता है जो एक तरफ संत पैदा करते हैं और दूसरी तरफ लफंगे। ऐसा दर्शन गलत दिशा में ही देखते रह जाने को बाध्य है। अंततः यह चीजों पर प्रकाश डालने, उन्हें स्पष्ट करने के बजाए उन्हें और धुंधला करने और भ्रम पैदा करने को बाध्य है। यह भी कि सारे मानवीय संपर्कों से कट कर और अपने हाल पर पड़े रह कर, किसी भी संस्कार से वंचित, यह सोचने वाली चीज पशुता के निम्नतम स्तर तक पतित हो जाती है। संक्षेप में सरलीकरण का देकार्त के *रेस कोजीतांस* से

ज्यादा जड़सूत्री और अदार्शनिक (शब्दार्थ : मूर्खतापूर्ण) कोई और उदाहरण सोचा भी नहीं जा सकता।

इस बात को लेकर देकार्त की प्रतिक्रिया यह होती कि 'तर्क एक सार्वभौम हथियार है, जिसका उपयोग सभी स्थितियों में किया जा सकता है (सी.एस.एम. I, 140), लेकिन जिस बात की वह पूर्णतया उपेक्षा कर जाता है, वह है मानव तर्क में अंतर्निहित यह संभावना कि वह जबर्दस्त विकृति का शिकार हो जाए, ऐसी विकृति जिसने हमारे युग में हमारी जाति के संपूर्ण विलोप का खतरा उपस्थित कर दिया है और जो देकार्त के समय में भी विषैलेपन से पूरी तरह मुक्त नहीं थी। वह सर्वाधिक जड़ीभूत और खीझ पैदा करने वाली अतार्किकता की संकेंद्रित अभिव्यक्ति 'धार्मिक अदालत', उसके ही समय में थी, जिसने उसे भी *आजीवन* आतंकित रखा।

धर्म द्रोहियों को खोजने और सजा देने के लिए वह गठित थी और खंभे से बांधकर सजा-ए-मौत देना उसके हाथ में था। लेकिन वह जो कुछ कर सका, वह बस इतना था कि उसने तर्क की व्याख्या 'सार्वभौम हथियार' के बतौर की। जिसे 'सारी स्थितियों में' (धर्मद्रोहियों को मिलने वाली यातना की स्थिति में भी) इस्तेमाल किया जा सकता था। शायद उसे अतार्किकता के तत्कालीन साम्राज्य से कुछ भी लेना-देना नहीं था। मैं उसे ब्रूनों जैसा साहस न रखने के लिए नहीं लताड़ना चाहता क्योंकि वह तो बहुतों के पास नहीं होता और जिस हॉलैंड को उसने रहने के लिए चुना था, उस देश में तो साहस की कोई जरूरत भी नहीं थी।

मानवीय तर्क उस चीज पर आधारित हो सकते हैं, जिसे नोम चोम्स्की 'नैसर्गिक वृत्ति और उद्दीपन नियंत्रण से स्वतंत्रता' कहते हैं और बेशक इससे 'मुक्त चिंतन और व्यवहार की असीम विविधता' सामने आ सकती है।¹³ फिर भी हम अतार्किकता के अंदर मौजूद जहरीलेपन की असीम संभावना को अनदेखा नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में, यह बेहतर होगा कि हम तर्क को एक प्रजाति का विशिष्ट और अद्वितीय गुण मानने की सोच के पार जाएं और अपना ध्यान जान मिल्टन द्वारा सामने लाई गई उस अवधारणा पर केंद्रित करें जिसमें वह मनुष्य को इस तरह परिभाषित करते हैं: 'खड़ा होने में सक्षम मगर गिर पड़ने को आजाद' (पैराडाइज लास्ट, ग्रंथ III, 99)। यह तर्क और अतार्किकता के बीच एक स्पष्ट विभाजन की और *रेस कोजीतांस* के मूल विचार को रुग्ण यांत्रिकतावादी और सरलीकरण वाला वाग्जाल मानते हुए इसे खारिज करने की मांग करता है।

लेकिन सरलीकरण (रिडक्शन) का एक और उदाहरण भी है जो अगर *रेस कोजीतांस* से ज्यादा जड़सूत्री और अदार्शनिक नहीं, तो उससे कम भी नहीं है और यह है *रेस एक्सटेंसा* की कल्पना, जिसे देकार्त विस्तारित चीज़ या द्रव्य मानता था। द्रव्य में बहुत सारे गुण हैं, मसलन अनिवर्तनीय एंड्रापिक विघटन और प्रबल महत्व रखने वाली विविध जैव रूपों के बीच अविराम चलती अंतः क्रियाएं जो पृथ्वी को जीवंत और जीवन धारण करने वाला ग्रह बनाती है। त्रिविमीयता जिसे देकार्त (स्पेस में) विस्तार कहता है, इसके अनेक गुणों में से सिर्फ एक है। और यद्यपि इससे कोई निस्तार नहीं है लेकिन कम से कम दार्शनिक रूप से यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं है। यह सही है कि भौतिकी ने ऊष्मा गतिकी के द्वितीय नियम को देकार्त की मृत्यु के तकरीबन 200 साल बाद सूत्रबद्ध किया। और अभी हाल में निकोलस ज्योजेस्कू रेगेन ने द्रव्य के दायरे तक इसका विस्तार किया। लेकिन कम से कम सहजबोध के स्तर पर लोग हमेशा से द्रव्य के विघटन; मसलन मिट्टी कटाव, से परिचित रहे हैं जो हमेशा उनके इर्दगिर्द होता रहा है। और अपनी सुरक्षा प्रणाली के अभिन्न अंग के बतौर वे हमेशा से संरक्षण के उपाय भी करते रहे हैं। इस तरह जैव और अजैव दोनों ही किस्म के द्रव्यों के महत्वपूर्ण गुणों को दरकिनार करके किया गया अमूर्तन जो इसे महज *विस्तार* तक समेट देता है, ऐसा जबरदस्ती का सरलीकरण या अति, अति सरलीकरण है जो और चाहे जो भी करे, उस दुनिया को लेकर हमारी समझदारी में कोई बढ़ोत्तरी नहीं कर सकता, जिसमें हम रहते हैं। ज्यादा संभावना इसकी ही है कि वह इसके बारे में गलत समझ को बढ़ावा दे।

देकार्तीय या यूं कहें कि आधुनिक दर्शन की ये दो बुनियादी श्रेणियां: *रेस कोजीतांस* और *रेस एक्सटेंसा*, अवैध धोखाधड़ी के अलावा कुछ और साबित नहीं होती। इसी क्रम में यह भी कि शरीर मस्तिष्क का वह द्वैत है, जिससे दर्शन (खासकर देकार्त के बाद से) जूझ रहा है, एक छद्म समस्या है और अगर आरवेल की एक अभिव्यक्ति का इस्तेमाल करें तो 'पार अन एक्सीलेंस' है। दरअसल इसकी अतिव्यर्थता इतनी स्पष्ट है कि यह समझना मुश्किल है कि इस पर लाखों वाक्य और अनगिनत टन कागज़ क्यों बर्बाद किए गए। कम से कम अब यह देखा जा सकता है कि यह द्वैत अपनी सारी सार्थकता खो चुका है। एक वैकल्पिक द्वैत मुझे प्रस्तावित करना है जो हमारे जीवित रहने की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। लेकिन इसे मैं उस चीज़ की आलोचना के संदर्भ में प्रस्तावित करूंगा जो शिक्षा के नाप पर चल रही है। लेकिन इससे पहले मैं यह देखना चाहूंगा कि क्या देकार्त

के सरलीकरण ने संस्कृति में (पूरी तरह मनुष्य-सीमित इस अभियान में) कौन सी खतरनाक विकृतियां पैदा की हैं।

3. संस्कृति

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सारे नृतत्वशास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि मनुष्य एक सांस्कृतिक प्राणी है। पृथ्वी पर पाई जाने वाली सारी पशु-प्रजातियों में आदमी ही है जिसे संस्कृति की ज़रूरत है और जिसके पास इसकी क्षमता भी है। लेकिन नृतत्वशास्त्रियों द्वारा संस्कृति के संदर्भ में दी गई मनुष्य की परिभाषा पर यह सहमति एक कौतूहल की चीज़ भर रह जाती है क्योंकि वे संस्कृति की परिभाषा पर सहमत नहीं हैं। पहले इसकी चर्चा की जा चुकी है कि 1952 में संस्कृति की परिभाषाओं का एक संकलन छपा। उसमें संकलित सैकड़ों परिभाषाओं के अलावा बाद के प्रकाशनों में बहुतेरी परिभाषाएं और आ चुकी होंगी और इसकी बहुम कम संभावना है कि नृतत्वशास्त्रियों के बीच उस बात के अर्थ को लेकर कोई सहमति हो जाए जिसे वे संस्कृति कहते हैं। कहना न होगा कि नृतत्वशास्त्रियों के अलावा अन्य लोग भी इस शब्द का व्यवहार करते हैं। रेमंड विलियम्स का यह सोचना स्वाभाविक है कि 'कल्चर' शब्द 'अंग्रेजी भाषा के दो या तीन जटिलतम शब्दों में से एक है।' उनके मुताबिक यह एक ऐसा शब्द है जो 'परस्पर सर्वथा विरोधी और एक दूसरे को काटने वाली स्थितियों' के लिए प्रयुक्त होता है, लिहाजा 'बहुत सारे अनसुलझे प्रश्न और उलझे उत्तर हमें आतंकित किए रहते हैं।'²⁴

इन सारी बातों का अर्थ यह है कि संस्कृति स्वभावतः अत्यधिक भ्रामक अवधारणा है, इसलिए इसका इस्तेमाल करते समय हमें आवश्यक सावधानी बरतनी चाहिए। इसे घेरने वाली कोई अर्थगत चहारदीवारी नहीं है। इसका नजीजा यह होता है कि यह अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग अर्थ रख सकती है और अलग-अलग अर्थ असमाधेय रूप से परस्पर विरोधी हो सकते हैं, इसके बावजूद ये सभी 'संस्कृति' के छाते के नीचे खड़े रह सकते हैं। यानी निकोलस ज्योजेस्कू रेगेन ने द्वंद्वात्मक अवधारणों के बतौर शब्दों का जो वर्गीकरण किया है, 'संस्कृति' शब्द उसका सबसे जोरदार दृष्टांत साबित हो सकता है। यह हमें याद दिलाता है कि हमारे ज्यादातर विचार अपनी प्रकृति में द्वंद्वात्मक होते हैं इसलिए 'हर अवधारणा और उसका विलोम बदलते दायरे वाली एक रूपरेखा रहित अर्थछाया में एक-दूसरे को आच्छादित किए रहते हैं।'²⁵ लेकिन दुर्भाग्यवश प्रोफेसर ज्योजेस्कू

रेगन इससे जुड़ी एक प्रमुख बुराई पर ध्यान नहीं देते। यह बुराई सत्ताधारी कुलीनों और उनके विचारकों की उस विराट क्षमता में निहित है जो पक्षपातपूर्ण ढंग से बहुतेरी द्वंद्वात्मक अवधारणाओं का मसलन विकास, 'सुरक्षा,' 'शिक्षा,' 'लोकतंत्र' आदि का निरंतर दुरुपयोग करते रहते हैं। ऐसी ही एक अवधारणा जो अभी कुछ समय पहले भारत में वोट बटोरू भूमिका में रही वह थी, 'इक्कीसवीं सदी में पहुंचना'। लेकिन अंततः यह थोथी साबित हुई। द्वंद्वात्मक अवधारणाएं आत्मछल की दृष्टि से काफी उत्पादक सिद्ध होती हैं। लेकिन अपने इसी गुण के चलते शासकों के लिए व्यावसायिक बुराई भी बन जाती है। सत्ताधारियों की चेतना अनिवार्यतः छद्म चेतना होती है: यह सत्ता की चेतना होती है, लेकिन उसकी सीमाबद्धताओं की चेतना कभी नहीं होती। इसका एक खास घृणित (मगर एकमात्र नहीं) उदाहरण है रूमानियाई तानाशाह निकोलाई चाऊशेस्कू। वह खुद को चिंतन की डेन्यूब, कार्पोथियंस का जीनियस, महान दार्शनिक और कंडक्टर (जो संभवतः रूमानियाई में कंडक्टर के लिए आता है) कहलवाता रहता था। और उसका एक उद्देश्य रूमानियाइयों को इस बात पर सहमत करना भी था कि वे स्वर्ण युग में प्रवेश करने जा रहे हैं। लेकिन जैसा हम जानते हैं, इसमें से कुछ इसके काम न आया। यह यही दिखाता है कि भ्रम बेचने का शुद्ध आतंक आधारित तरीका, उन्हें चुपके-चुपके बाध्यकारी बना देने की अपेक्षा कहीं कम प्रभावी है लेकिन चाहे जैसे भी बेचे जाएं, भ्रम तो भ्रम है, उनका मकसद ही होता है, चीजों को रहस्यमय बनाना और उन लोगों को दिग्भ्रमित और अशिक्षित बनाना जिनको उन्हें खरीदने के लिए बाध्य किया जाता है। रूमानियाई उदाहरण यह भी बताता है कि अगर लोग झांसे में आने से इनकार कर दें तो द्वंद्वात्मक अवधारणाओं के पक्षपातपूर्ण तरीके इस्तेमाल के जरिए उन्हें अंतहीन ढंग से नुकसान नहीं पहुंचाया जा सकता।

लेकिन उनकी अंतर्निहित सीमाओं से निश्चित या शायद अनजान बहुतेरे बड़े विद्वान, खासकर वे जो सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में हैं, ऐसी अर्थगत दृढ़ता प्रदान कर देते हैं जो उनमें न होती है, न हो सकती है। दूसरे शब्दों में इन द्वंद्वात्मक अवधारणाओं का 'अरिथमोमार्फिक' अवधारणाओं के बतौर वे इस्तेमाल करते हैं। इस शब्द को ज्यॉर्जेस्कू रेगन ने उन अवधारणाओं को रेखांकित करने के लिए गढ़ा था जो अंकगणितीय संख्याओं की तरह 'एक दूसरे से सर्वथा अलग-थलग और परस्पर भिन्न हैं, ठीक वैसे ही जैसे कोई एक अकेली अंक गणितीय संख्या बाकी अन्य संख्याओं से अलग और उनसे भिन्न होती है।'²⁶ कोई अरिथमोमार्फिक अवधारणा ऐसी होती है, जिसमें द्वयर्थकता अंतर्निहित नहीं होती और जो अपने

बल पर टिकी रह सकती है, लिहाजा ऐसी कोई दो अवधारणाएं एक-दूसरे के साथ गड़मड़ नहीं हो सकतीं। मसलन 'तीन' और 'चार' एक दूसरे से इस अर्थ में अलग-थलग और परस्पर भिन्न हैं कि उनमें ठीक एक अर्थगत दूरी है जिसे लेकर गलती संभव नहीं। उनके बीच एक समझ में आ सकने वाला फासला है और ठीक उसी समय वे दोनों बाकी संख्याओं से भिन्न भी हैं।

पाजिटिविज्म या मूल्यमुक्त विज्ञान की विचारधारा ने लंबे समय तक यह विचार चलाने की कोशिश की कि विज्ञान का खास कारोबार अरिथमोमार्फिक शब्दावली में ही चल सकता है। ज्यॉर्जेस्कू रेगन के मुताबिक यह नज़रिया कैथलिक चर्च की याद दिलाता है: 'पवित्र विचार लैटिन भाषा में ही व्यक्त किए जा सकते हैं।'²⁷ द्वंद्वात्मक और समग्रता मूलक चिंतन से कतराने का यह संसार एक किस्म के 'घाल मेल' को जन्म दे चुका है, जिसने 'आज सामाजिक विज्ञान के बड़े-बड़े क्षेत्रों को तबाह कर रखा है।' इसे अरिथमोमैनिया कह सकते हैं। ऐसे में कोई आश्चर्य नहीं कि आर्थिक विकास जैसी एक जटिल प्रक्रिया को महज़ एक संख्या यानी प्रतिव्यक्ति आय तक सीमित कर दिया गया है।²⁸

यह 'अरिथमोमैनिया' जिससे ज्यॉर्जेस्कू रेगन का अभिप्राय उस प्रवृत्ति को रेखांकित करना है जिसे गुणों से कुछ लेनादेना नहीं होता, मेरे लिए समग्र विश्व दृष्टि को खारिज करने वाली प्रवृत्ति को व्यक्त करने वाला शब्द है। यह प्रवृत्ति हर सरलीकरणवाद (रिडक्शनिज्म) के एक या दूसरे रूप में जाहिर होती रहती है। इस तरह हमें उस दिशा की जानकारी नहीं होने देती जिस ओर हम बढ़ रहे हैं, दुनिया भर के भुलावे अलबत्ता यह देती रह सकती है। मसलन लेस्ली ह्राइट द्वारा दी गई संस्कृति की इस परिभाषा को देखिए जिसमें वे संस्कृति को 'वस्तुओं और घटनाओं को प्रतीकात्मकता पर निर्भर, अकायिक, आभासी सातत्य'²⁹ बताते हैं। इस परिभाषा का और इसी तरह संस्कृति की दूसरी परिभाषाओं का वांछित लगाव *एक्टस होमिनी* यानी उन कामों से है जिन्हें *आदमी करता है*। लेकिन जहां तक मैं जानता हूं, मानक संस्कृतिशास्त्र की कोई भी धारा उन सभी बातों को ध्यान में नहीं रखती, जिन्हें *खास तौर पर* आदमी करता है और यही वजह है कि *एक्टस होमिनिस* के बारे में यानी उसके बारे में जो कुछ आदमी के साथ होता है, हम कुछ नहीं जान पाते।³⁰ लेकिन आज जो कुछ आदमी के साथ हो रहा है, वह मुख्यतः उसका ही प्रत्यक्ष प्रभाव है, जो कुछ उसने किया है या कर रहा है। और हम अब उसकी और ज्यादा उपेक्षा नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में, विश्वव्यापी पर्यावरण ध्वंस या नाभिकीय प्रलय की संभावना, जो प्रजाति के बतौर हमें नष्ट

कर सकती है, इस ऐक्ट्स होमिनिस को हमारे युग की सर्वप्रमुख चिंता बना देती है। दरअसल अपना ध्यान केंद्र खिसका कर ही हमें बोध हो सकता है कि हम किस दिशा में जा रहे हैं। जाहिर है कि आज के दौर में ऐसे बोध की खोज हमारे लिए प्राथमिक हो जानी चाहिए क्योंकि इसके बगैर हम यह अपेक्षा भी नहीं कर सकते कि हम आज जिन खतरों का सामना कर रहे हैं, उनसे कभी बाहर आ सकते हैं। दरअसल स्थिति की गंभीरता को देखते हुए इससे ज्यादा प्रासंगिक और गौरवशाली कोई और बौद्धिक काम हमारे लिए हो ही नहीं सकता कि हम उस काम में जुट जाएं जिसे आइंस्टीन कभी जानकारी का चेन रिएक्शन कहा करते थे। हमारे जीवित रहने की यह अनिवार्य शर्त होगी और संभव है कि यही पर्याप्त भी साबित हो जाए।

लेकिन वह मानक प्रस्थापना किसी काम की नहीं है जिसे एकेडमिक सामाजिक विज्ञानों में आदमी और जानवरों के बीच फर्क पर जोर देने के लिए अखिर किया जाता है। मसलन क्लिफर्ड गीर्ज की प्रस्थापना का एक आमफहम सार कुछ ऐसा है : इस प्रकार मनुष्य यंत्र निर्माता, बातचीत करने वाला और प्रतीक गढ़ने वाला पशु है। वही हंसता है; वही जानता है कि वह मर जाएगा; वही अपनी मां-बहन के साथ यौन-क्रिया से नफरत करता है; उसी के पास दूसरी दुनियाओं में जीने की वे दृष्टियां हैं, जिन्हें सांतायना धर्म कहते थे, और वही है जो दिमाग में उन चीजों को पकाता है, जिन्हें सिरियल कौनली कला कहते थे। उसके पास सिर्फ मानसिकता नहीं, चेतना है, सिर्फ आवश्यकताएं नहीं मूल्य हैं, सिर्फ भय नहीं विवेक है, सिर्फ अतीत नहीं इतिहास है। संक्षेप में वही है जिसके पास संस्कृति है।³¹

गीर्ज हमें यह नहीं देखने देते कि वह और वे समाज विज्ञान, जिनका जिक्र उन्होंने किया है, इसमें कोई रुचि रखते हैं या नहीं कि जो कुछ मनुष्य करता है उसके परिणाम स्वरूप उसके साथ क्या होता है। वह इस बारे में हमें कुछ नहीं बताते कि मानव जाति किस दिशा में बढ़ रही है। मगर कल्पना कीजिए अगर उन्होंने कोई चीज इस तरह की लिखी होती :

‘आदमी केवल नाभिकीय बम बनाने वाला, जंगल नष्ट करने वाला, संसाधन समाप्त करने वाला जानवर है। सिर्फ वही है जो आश्वित्ज की गैस भट्टियां बना सकता है और दिल्ली के सिख विरोधी दंगे कर सकता है। वही है जो शस्त्र भंडार खड़े कर सकता है और नौकरियों में कटौती कर सकता है; सिर्फ वही इतना अतार्किक है जो एक दिन में तीन अरब डालर खर्च कर सकता है और ठीक उसी दिन अपनी ही जाति के 82000 से ज्यादा लोगों को भूख और कुपोषण से मरने दे सकता

है। सिर्फ वही है जिसने जीवन-मृत्यु के प्राकृतिक क्रम के ऊपर वह प्रेतछाया डाल दी है जिसे राबर्ट लिफ्टन ‘मृत्यु आक्रांत अप्राकृतिक जीवन व्यवस्था’ कहते हैं। अकेला वही है जो संस्कृति का विनाश करता है।’ यदि गीर्ज ऐसा लिखते तो न सिर्फ उन्हें मानवता की ओर धीमे संक्रमण पर बोलना पड़ता बल्कि इस पर भी कि लोग पागलों की तरह इससे दूर भाग रहे हैं।

जो भी हो यहां मेरी चिंता उस संस्कृति को लेकर ही है जिसके बारे में माना जाता है कि मनुष्य ही उसे बना सकते हैं, पशु नहीं। दूसरे शब्दों में मैं आरपार की सांस्कृतिक तुलना या एक संस्कृति की शब्दावली में दूसरों के मूल्यांकन को लेकर चिंतित नहीं हूं। इसके बजाए मेरी चिंता संस्कृति को उस आम मानवीय प्रक्रिया के बतौर लेते हुए है जो मनुष्य को उसकी मनुष्यता देती है और जिसमें आने वाली विकृतियां उसे मनुष्य के दर्जे से कुछ नीचे ला देती हैं, यहां तक कि उसे दैत्य में बदल देती हैं। इस तरह देखने पर संस्कृति के तीन संघटक तत्व नजर आते हैं: बोधात्मक, रचनात्मक और नियामक। बोधात्मक उस नजरिए को जाहिर करता है जिससे लोग दुनिया देखते हैं, यह उनकी अपनी-अपनी विश्वदृष्टि को व्यक्त करता है। रचनात्मक से तात्पर्य उन सभी कलाकृतियों से है, जिन्हें वे गढ़ते हैं; कला और साहित्य से है, जिसे वे रचते हैं; और जन संस्थाओं से है जिन्हें वे बनाते हैं। नियामक से मतलब उस मानदंड से है जिसकी शब्दावली में लोग उस सभी कुछ का मूल्यांकन तथा स्तर निर्धारण करते हैं, जो उनके जीवन के कार्यव्यापार में आती हैं। जाहिर है कि यह हद दर्जे का योजनाबद्ध वर्गीकरण है। दरअसल ये तीनों तत्व बड़ी घनिष्ठता से परस्पर जुड़े हैं। उदाहरण के लिए जब कोई जोसफ रोटबाल्ट मैनेहटन डिस्ट्रिक्ट प्रोजेक्ट से यह जान लेने के बाद हटता है कि जर्मन कहीं से भी परमाणु बम बना लेने के करीब नहीं पहुंचें हैं, बल्कि उन्होंने इसे बनाना शुरू ही नहीं किया है; तब वह नाभिकीय खतरे के अपने बोध के ज़रिए एक ऐसा मानदंड निर्मित करता है जहां खड़े होकर सोचने पर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि परमाणु बम विलकुल बनाया ही नहीं जाना चाहिए। क्योंकि आखिरकार जर्मन बम का भय ही था जिसके जवाब में मैनेहटन प्रोजेक्ट की शुरुआत हुई थी। इसी तरह यह स्वीकार करते हुए कि ‘जो भी आदमी अनाज की दो बाली उगाता है या जमीन के ऐसे टुकड़े पर जहां घास की सिर्फ एक पत्ती उगती थी, वहां दो उगा देता है, उसे सारे राजनीतिज्ञों की बनिस्बत मानव जाति का कहीं ज्यादा सम्मान हासिल होना चाहिए और देश के लिए उसकी सेवा कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण मानी जानी चाहिए।’ जोनाथन स्विफ्ट व्यापक भुखमरी के अपने

बोध और उसके प्रति अपनी चिंता को एक ऐसे मान दंड में ढाल देते हैं, जिसकी शब्दावली में एक बेहतर दुनिया की रूपरेखा बनाई जा सकती है।

सबसे पहले हम रचनात्मकता को लें क्योंकि यही वह बात है, जिसने उस वक्त से यानी कि 30-40 हजार साल से हमें एक प्रजाति के बतौर बचाए रखा है जब हमारे पूर्वजों ने हमारे जैसा रूपाकार ग्रहण किया। इसका एकमात्र मतलब यह हुआ कि रचनात्मकता ने अभी तक एक-एक सकारात्मक भूमिका अदा की है। इसके अलावा ऐसी कई कृतियों और संस्थाओं से अभी तक बच निकलने में हमारी मदद की है जिनको (हमारे अपने जीव विकास विज्ञान के अनुसार) अगर हम न बनाते तो बेहतर था और जो आज भी हमारा विनाश कर सकती हैं। ऐसे सोचने पर हथियारों की ढेरों किस्में, जो आज बाकायदा हथियारतंत्र बन चुकी हैं, और सत्ता का भारी संकेंद्रण आसानी से हमारे दिमाग में आ जाते हैं। गौरतलब है कि सीधे प्रकृति से मुठभेड़ के लिए जिन बुनियादी चीजों की हमें जरूरत थी, वे काफी पहले, जब हमने ज़मीन जोतने-बोने की शुरुआत की, तभी विकसित हो गई थीं। बाद के दौर में हमारा जोर ऐसी चीजें बनाने की ओर बढ़ता गया है जो विलासितापूर्ण, दिखावटी और यहां तक कि अत्यंत बेतुकी और खतरनाक हैं, लेविस मंफोर्ड का एक बहुत जोरदार वाक्यांश मैं यहां पूरा का पूरा देने का लोभ नहीं छोड़ पा रहा हूं :

आराम की घरेलू जिंदगी के लिए जरूरी सारे साज-ओ-सामान चूल्हा, संदूक, कोठरी, गोदाम, बिस्तर, कुर्सियां, खाना पकाने और खाने-पीने के बर्तन, कंबल, बुने हुए कपड़े और लटकाने वाली सजावटी चीजें; नव-पाषाणयुगीन और ताम्रयुगीन खोजें हैं, यानी कि दो हजार वर्ष ईसा पूर्व या उससे पहले की। अगर कोई दुष्ट परी किसी दिन इस नव-पाषाण युगीन विरासत को पोछ ले जाए और हमें सिर्फ बैक्यूम क्लीनरों, इलेक्ट्रिक वाशिंग मशीनों, डिश वाशरों, इलेक्ट्रिक टोस्टरों और आटोमेटिक हीटिंग सिस्टम से घिरा हुआ छोड़ दे तो हम घर नहीं चला पाएंगे, दरअसल हमारे पास चलाने के लिए कोई घर ही न होगा। सिर्फ दुत्कारती हुई स्पेस यूनिटें होंगी जो कि अफसोस! पेरिस से लेकर न्यूयार्क तक और सिंगापुर से लेकर हांगकांग तक व्यूरोक्रेटिक हाउसिंग स्कीमों के ज़रिए आज भी भारी मात्रा में उपलब्ध हैं।³²

बेशक यह उस चीज के खोखलेपन को उजागर करने का सबसे अधिक चित्रात्मक तरीका है, जो प्रगति के नाम पर चली आ रही है, लेकिन यह भी याद रखा जाना

चाहिए कि आधुनिक सामानों की इस सूची का निर्मम विस्तार तथा इससे जुड़े हुए विक्षिप्त बिक्री बढ़ाओ अभियान पृथ्वी के संसाधनों को तेजी से खत्म करते जाएंगे और इस तरह इसके जीवन समर्थक तंत्र को लकवाग्रस्त कर डालेंगे। दूसरे शब्दों में, अगर दुष्ट परी कुछ न ले जाए तो भी हमारे पास ऐसा कोई ग्रह शेष नहीं रह जाएगा जिस पर हम रहने की कल्पना करें। उपभोक्तावाद की इन रंगरलियों के साथ सैन्यवाद के व्यभिचार भी जुड़े हैं। विश्वस्तर पर हिंसा की संस्कृति भयानक चढ़ान पर है और जीवन के प्रति सम्मान वैसे ही उतार पर है। दरअसल हिंसा अब ग्लैडियेटर्स के ज़माने से भी कहीं ज्यादा मनोरंजन का अंग बन चुकी है और टी. वी. की मदद से सीधे रिहायशी कमरों तक पहुंच गई है, जहां खिलौना निर्माताओं के चतुराईपूर्ण विज्ञापनों के ज़रिए यह मानव मनोविज्ञान को बचपन से ही निर्मम बना रही है। इसके अलावा कई 'ड्रग माफिया' और 'तंबाकू कारपोरेशन' हैं जो राजनेताओं की मदद से अपने शक्तिशाली नशा-साम्राज्य को हर ओर फैलाने में जुटे हैं और इस तरह एक जाति के बतौर हमारी सुरक्षा की संभावनाओं को कहीं और अधिक धुंधला बना रहे हैं। लेकिन हर जगह की सत्ताएं, जो चरम दुष्परिणाम पर न सोचने के लिए ही तैयार की गई हैं, अदूरदर्शी परिणामवाद या 'यहीं और अभी' वाली सोच की तानाशाही की शिकार होकर हाथ पर हाथ धरे बैठी हैं।

संक्षेप में यह कि हमारी इच्छाशक्ति खतरनाक हद तक नियंत्रण से बाहर चली गई है पर अभी भी शायद पूरी तौर पर नहीं। ऐसा हो जाने की स्थिति में हम ये बातें करने के लिए मौजूद ही न होते। लिहाजा आज जरूरत इस बात की है कि हम इच्छाशक्ति का मूल्यांकन करने के लिए संस्कृति के नियामक तत्व की मदद लें और इस मूल्यांकन का मानदंड हो: उस अस्तित्व संकट से, (जिसमें कि हम जिंदा हैं) मानव-सभ्यता की सुरक्षा। जीवित रहने का यह मानदंड किसी राजनीतिक-ऐतिहासिक शून्य से नहीं उपजा है, बल्कि जैसे ही हम मौजूदा स्थिति के नियामक तत्वों को देखते हैं और परिस्थिति की गंभीरता महसूस करते हैं, वैसे ही यह सामने आ जाता है। हांस जोनास ने लिखा है; हमें तभी पता चलता है कि अमुक चीज दांव पर लगी है, जब वह दांव पर लग चुकी होती है।³³ ठीक उसी तरह किसी फंदे से छुटकारा पाने की उम्मीद तभी कर सकते हैं जब कम से कम जान जाए कि हम फंदे में फंस चुके हैं लेकिन अगर हम यह जान ही नहीं पाते कि हमारे गले में फंदा पड़ चुका है तब तो कोई उम्मीद नहीं कि हम बाहर निकलने की कोशिश करेंगे। हमारी जाति के लिए यह जानकारी कि वह अकल्पनीय जटिलता और जड़ता के एक फंदे में फंस चुकी है, संस्कृति की एक

संस्कृति शिक्षा और लोकतंत्र

ऐसी परिभाषा सामने लाती है जो हमारी स्थिति के लिए बिलकुल विशिष्ट है। मेरे विचार से यह स्थिति गैरजिम्मेदाराना ताकतों के राक्षसी जुटाव, जमाव और उभार के ज़रिए परिभाषित है। ये लोग गैरजिम्मेदार इस रूप में हैं कि पहले वे शान-ओ-शौकत के भ्रम खड़े करते हैं और फिर व्यक्तिगत और राष्ट्रीय उन्माद पैदा करते हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृति के भावनात्मक तत्व के रूप में इन ताकतों को नाजायज साबित करने के लिए और उन्हें कमजोर करने के लिए अथक राजनीतिक संघर्ष और सक्रियता को अवश्य शामिल किया जाना चाहिए। क्योंकि इसी तरह रचनात्मकता को हमारे जातीय मामलों में कोई सकारात्मक भूमिका निभाने के लिए साकार किया जा सकता है और हमारे अस्तित्व पर मंडरा रहे उन खतरों को हटाया जा सकता है जो अनुमापन क्षमता से भी कहीं ज्यादा भयावह हो चुके हैं।

आर्थर कोएस्लर ने एक बार कहा था कि अगर मुझसे पूछा जाए कि मानव जाति के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तारीख कौन सी है, तो मैं बिना हिचक जवाब दूंगा: छह अगस्त 1945; चेतना के उदय से लेकर इस दिन तक मनुष्य एक व्यक्ति के बतौर अपनी मृत्यु की संभावना को लेकर जीता था लेकिन 'इस दिन के बाद से यानी जब पहले-पहल परमाणु बम सूरज को फीका करता हुआ हिरोशिमा पर फटा, मनुष्य को एक प्रजाति के बतौर अपनी मृत्यु की संभावना को लेकर जीना पड़ रहा है।' छह अगस्त वह दिन है जिसे ईसाई हर साल जीसस को मुक्तिदायक शुद्ध प्रकाश में रूपांतरित हो जाने के दिन के रूप में मनाते हैं। इसके ठीक विपरीत इसी दिन हुए परमाणु विस्फोट के साथ, (जो खुद भी रूपांतरकारी घटना थी) मृत्यु निमग्नता और विक्षिप्तता से भरी मानव जाति की मृत्यु के साथ स्थाई और विश्वव्यापी मुठभेड़ हुई।³⁴ दरअसल मानव जाति का हर सदस्य इस दिन के बाद एक *हिबाकुशा* हो गया। यह एक ऐसा शब्द है जिसे जापानियों ने विस्फोट प्रभावित व्यक्तियों को रेखांकित करने के लिए गढ़ा। दूसरे शब्दों में इस दिन के बाद मानवजाति (*होमो सेपियंस*) एक झटके में पतित होकर होमो *हिबाकुशिकस* हो गई। अगर हिरोशिमा दिवस से एक नए कैलेंडर की शुरुआत हो तो यह बिलकुल स्वाभाविक बात होगी। इसका मतलब होगा कि आज हम 50 ए. एच. में जी रहे हैं।³⁵

जाहिर है कि आज की स्थिति हिरोशिमा से पहले के सालों और सदियों से भिन्न है। इस स्थिति में संस्कृति की मेरे द्वारा दी गई परिभाषा के अलावा किसी अन्य परिभाषा का कोई मतलब नहीं, यहां तक कि अगर किसी और द्वारा पहले

यह दी जा चुकी हो तो भी नहीं। सत्ता को कमजोर करने और उसे नाजायज साबित करने का काम उस चीज का बुनियादी तत्व होना चाहिए जिसे मैं संस्कृति समझता हूँ। सीधा निष्कर्ष है: अब संस्कृति की वही अवधारणा सार्थक और प्रासंगिक होगी जो खुद को दृढ़ता और स्पष्टता के साथ हमारे क्षत-विक्षत समय संदर्भ में प्रतिष्ठित करे। कोई भी अन्य अवधारणा इस घोर प्राथमिकता के कार्यभार से खतरनाक विचलन होगी। यानी संस्कृति को संस्कृति होने के लिए सत्ता का एक प्रभावी प्रतिकारक होना होगा। हमेशा से संस्कृति मानव जाति द्वारा प्रकृति का सामना करने की पद्धति रही है, इस नई भूमिका को उसे खुद में जोड़ना होगा।

लेकिन मुख्यधारा के नृत्वशास्त्री इस नजरिए को स्वीकार करें, इसकी उम्मीद नहीं है क्योंकि संस्कृति उनके लिए केवल मानव जाति की ऐसी अद्वितीय क्षमता है जो उसे प्राकृतिक दुनिया के ऊपर नए-नए ढांचे थोप देने में मदद करती है और जिन्हें थोपना प्रकृति के साथ जीवित रहने के लिए ज़रूरी होता है। यहां से शुरू कर जिगमंट बाउमैन यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सर्वाधिक सार्वभौम और सामान्य तत्वों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि मानवीय आचरण अव्यवस्था को व्यवस्था में बदलने या एक व्यवस्था की जगह दूसरी व्यवस्था लाने में व्यक्त होता है। व्यवस्था यहां बुद्धिमत्तापूर्ण और अर्थपूर्ण का समानार्थी शब्द है। वह स्वीकार करते हैं कि अर्थविज्ञान की दृष्टि से अर्थपूर्ण का तात्पर्य हुआ व्यवस्था और केवल व्यवस्था।³⁶ सांस्कृतिक और 'अर्थ वैज्ञानिक' दोनों ही प्रतीक निर्माण से जुड़े हैं लेकिन दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह उस सैन्य औद्योगिक अराजकता का सतत उभार ही है जिसने इस सिक्के को न सुधरने की हद तक अवमूल्यित कर दिया है। अगर लार्ड जुकरमान की एक प्रसिद्ध उक्ति को जरा बदल कर कहें तो दो महाशक्तियों की स्थापना ने उनके नाभिकीय अस्त्रों के कारखानों में कार्यरत व्यक्तियों को 'अतार्किक आधार वाली एक दुनिया' बनाने के लिए बाध्य किया है। ऐसी दुनिया दोनों महाशक्तियों में से एक के पतन के बावजूद मूर्तिमान अराजकता के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकती और बाऊमान की तरह यह कल्पना करना कि मानवीय आचरण अव्यवस्था को व्यवस्था में बदलने में व्यक्त होता है, बुनियादी बात का अमूर्तन है। दरअसल हमारे समय को परिभाषित करने वाला तथ्य यही है कि मानव इतिहास की निरंतरता को अब सुनिश्चित मानकर नहीं चला जा सकता। मानव जाति का पूर्ण विलोप अब केवल एक तकनीकी संभावना है और संभवतः इसे किसी भी व्यवस्था को रेखांकित करने वाली बात के बतौर नहीं लिया जा सकता। मानवीय आचरण को हर हाल में

व्यवस्था स्थापित करने वाली शक्ति के बतौर रेखांकित कर देना और ठीक उसी वक्त निरंतर तेज होती इंट्रापिक अव्यवस्था की अनिवार्य सहगामी प्रवृत्ति को भुला देना बिल्कुल गलत दिशा में जाने वाला सरलीकरणवाद है। ऐसा इसलिए और भी है, क्योंकि पर्यावरण के क्षय के एक या दूसरे रूप में अव्यवस्था हमारी जाति के भविष्य पर अपनी अशुभ छाया डाल रही है। अगर हम समकालीन सैन्यवाद की लगातार बढ़ती प्रचंडता की उपेक्षा कर जाएं तो भी आधुनिक औद्योगिक अर्थतंत्र के नागरिक पहलू में अंतर्निहित लगातार गहराता ऊर्जा अपव्यय *अपने बल पर* ही प्रलयकारी ध्वंस का कारण बन सकता है। यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका इसका लाक्षणिक उदाहरण है। कृषि उत्पादन का रसायनीकरण और खाद्य प्रसंस्करण का व्यापारीकरण ऊष्मा-गतिक दृष्टि से भारी नुकसान के स्रोत हैं। नतीजा यह है कि 1945 में जहां डिनर टेबुल पर परोसे जाने वाले एक किलो कैलोरी ऊर्जा वाले भोजन के उत्पादन,³⁷ प्रसंस्करण, वितरण, भंडारण में कुल पांच किलो कैलोरी ऊर्जा खर्च होती थी, वहीं 1970 में यह बढ़कर 10 किलो कैलोरी हो गई। इसके बावजूद, इस अपव्यय की उपेक्षा करते हुए, (और यह बहुत बड़ी मात्रा में हो रहा है और बढ़ता जा रहा है) पेशेवर अर्थशास्त्री कार्यकुशलता बढ़ाने के नाम पर इसका गुणगान कर रहे हैं। यहां तक कि नोबुल पुरस्कार प्राप्त सैमुएल्सन जैसे अर्थशास्त्री भी उसमें शामिल हैं जो यह मानते हैं कि कचरे का खात्मा भी बाजार व्यवस्था की परिभाषा का एक अंग होना चाहिए। बल्कि इसे 'कचरा-अनुपस्थिति' के बतौर और ऐसे प्रभावी संसाधन-उपयोग के बतौर परिभाषित किया जा रहा है, जिसमें एक चीज के उत्पादन के दौरान दूसरी चीज जरा भी उत्पादित नहीं होती।³⁸ वे यह देख पाने में लगातार अक्षम हैं कि जिन चीजों को वे माल समझते हैं, उनमें से कई एक पर्यावरण के लिए और समाज के लिए भी बुरी चीजें हैं और अगर पहली नजर में देखें तो उन्हें बनाया ही नहीं जाना चाहिए।

मेरा सुझाव कतई यह नहीं कि सारी मानवीय गतिविधियां रोक दी जाएं क्योंकि न यह संभव है न इसकी कोई जरूरत है। मुझे सिर्फ इतना कहना है कि ये गतिविधियां एंट्रापी नियम द्वारा सुनिश्चित सीमाओं के भीतर ही चलें। मेरी बात का उद्देश्य उपलब्ध ऊर्जा के बेतहाशा बरबादी और नुकसान पर जोर देना है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ज्यॉर्जेंस्कू रेगन आजकल द्रव्य के एंट्रापिक विघटन को भी नियम जैसी औपचारिक मान्यता दिलाने के लिए बहस में उतरे हुए हैं। बैरी कामनर इस नियम को प्रकृति की कार्यप्रणाली में अपनी सर्वाधिक मौलिक पैठ मानते हैं और जैसा कि आइंस्टीन ने कहा था, प्रकृति से कभी पार नहीं पाया

जा सकता—लिहाजा कोई भी सभ्यता जो इस नियम द्वारा लागू होने वाली बाध्यताओं पर ध्यान देने से लगातार इनकार करती जा रही है, वह बहुत दिन चल नहीं सकती। दूसरे शब्दों में अगर हमारे समय का सैन्य उद्योगवाद एंट्रापी के आदेशों का उल्लंघन जारी रखता है तो संस्कृति की रेमंड विलियम्स वाली परिभाषा जो इसे 'मानवीय पूर्णता की प्रक्रिया' मानती है, आगे अधिकाधिक अरक्षित होती जाएगी। यहां तक कि संस्कृति की अपेक्षाकृत सीधीसादी अवधारणा भी उसी पल ढह जाती है जिस पल हम यथार्थ की दुनिया से इसका जोड़ मिलते हैं जो इसे 'मानवीय विकास की प्रक्रिया' भर मानती है, जिसे विलियम्स 'मानव जाति में आम बढ़ोत्तरी की प्रक्रिया' के समतुल्य मानते हैं। ऐसा इसलिए कि आज हम जिस बात का अनुभव कर रहे हैं वह *विकास* नहीं है जिसका कि मतलब होता है 'बहिर्मुखी होना और फैलना।' इसके बजाए हमारा सामना जिस चीज से है, वह है अंतर्वलयन (इंवल्यूशन)। इसका मतलब है भीतर, और भीतर होते जाना या कि सिकुड़ते जाना। यह अंतर्वलयन सर्वाधिक आम फहम ढंग से खुद को ज़ाहिर करता है उन भूगर्भीय संसाधनों की सतत निकासी में, जिनका नवीकरण संभव नहीं, और इसीलिए जिनकी मात्रा सीमित है। लेकिन इस ग्रहीय संपदा के सघनतर होते जाते उपभोग से जुड़ी हुई एक अन्य अभिव्यक्ति भी है, जिसे प्रदूषण कहते हैं, और जो ऐसे प्रांतों की *नवीकरण क्षमता का सतत विनाश* कर रहा है, जो सदा से अपना नवीकरण करते चले आ रहे हैं।

इन बातों की रोशनी में हम दो चीजों के बीच यथासंभव स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना चाहते हैं :

- (क) वह सब, जो हमें अपने चौगिर्द की दुनिया का सामना करने और एक जाति के बतौर अपना अस्तित्व *सुरक्षित करने* में मददगार हो; और
- (ख) वह सब जो एक जाति के बतौर हमारे भविष्य में कटौती करे। पहली के लिए मैं 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग करूंगा और दूसरी के लिए 'प्रतिसंस्कृति' शब्द का।

जैसा कि पहले कहा गया है, संस्कृति अवधारणाओं, कृतियों और संस्थाओं का ऐसा समुच्चय है, जो न प्रकृति में पाया जाता है, और न आनुवंशिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रमित होता है, जो हमें ऐसे आदर्श निर्मित करने में मदद देता है जिनके जरिए हम उस दुनिया का सामना कर सकें जिसमें हम रहते हैं। संकेंद्रित सत्ता की वह लूटमार, जिसने यथार्थ की बुरी तरह विरूपित और विकृत कर दिया है और जिस पर अभी तक मुख्य धारा के विद्वज्जन ने पर्याप्त ध्यान

नहीं दिया है, हमें इसके लिए बाध्य कर रही है कि हम मत वैभिन्न्य और विसंगति को भी संस्कृति की परिभाषा में शामिल करें। अतीत में जादू पर भरोसा जैसे अनेकानेक अंधविश्वास और भूकेंद्रित ब्रह्मांड सिद्धांत जैसे गलत बोध फलते-फूलते रहे हैं। इसके बावजूद संस्कृति ने पृथ्वी के अधिकतम मानवीय समय में बाह्य वातावरण की रक्षा करने में हमारी मदद की है। अगर ऐसा न होता और हम जैसे-तैसे पैदा हो ही जाते तो भी बहुत पहले नष्ट हो गए होते। इसका मतलब है कि संस्कृति के बगैर हम अपने अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकते और यह भी कि यह चीज पूरी तरह हम लोगों तक ही सीमित है। दूसरे शब्दों में केवल संस्कृति मनुष्य की रचना करती है और केवल मनुष्य संस्कृति की रचना करते हैं। बेशक चिड़ियां भी घोंसलें बनाती हैं और मधुमक्खियां छत्ते बनाती हैं लेकिन ऐसा करने में वे सहजवृत्ति से संचालित होती हैं और घोंसले या छत्ते बनाना न तो उन्हें 'बेहतर' चिड़ियां या मधुमक्खियां बनाता है और न 'बदतर'। जैसा कि जोस अर्तेगा वाई गैसेट ने कहा है: वाघ को 'अव्याघ्रित' नहीं करता। लेकिन दूरदृष्टि के हमारे अद्वितीय गुण के चलते संस्कृति एक बहुत सचेत प्रयास बन जाती है। अगर मार्क्स से शब्दावली उधार लें तो इस पर 'पूर्णतः मानवीय' की मुहर लगी होती है। अपने एक बहुत प्रसिद्ध लेखांश में वे कहते हैं: 'कोई मकड़ी जो काम करती है, वह जुलाहे के काम से बहुत मिलता-जुलता है, और मधुमक्खी अपने छत्ते की संरचना से बहुतेरे वास्तुशिल्पियों को शर्मिदा कर सकती है। लेकिन जो बात सबसे बुरे वास्तुशिल्पी को सबसे अच्छी मधुमक्खी से भिन्न बनाती है, वह यह है कि वास्तुशिल्पी अपनी संरचना को यथार्थ में उतारने से पहले अपनी कल्पना में निर्मित करता है।'⁴⁰ यही चीज है जो हमें मानवीय बनाती है, यद्यपि गैरजिम्मेदार आर्थिक-राजनीतिक सत्ता की ज्यादतियां हमारी मनुष्यता को नष्ट करके हमें वह बना सकती है जिसे मार्क्स 'अ-मनुष्य' कहते थे।

लेकिन इस बात पर भी जोर देना जरूरी है कि यह सिर्फ हम हैं जिन्हें पंचभूतों के विरुद्ध ठिकाने खड़े करने होते हैं; हम को ही खाना बनाने के लिए बर्तन चाहिए; सिर्फ हमीं स्वतंत्रता, उत्तरजीविता और काव्यन्याय जैसी चीजों के बारे में सोचते हैं। दरअसल संस्कृति के इन संघटक तत्वों ने हमें मनुष्यता दी है और ये ही हमें अपने माहौल को अपने अनुकूल बनाने के लिए तैयार करते हैं। कुल मिलाकर संस्कृति पूर्णतया मनुष्य से उपजी है और यह मानवीकरण का एक अभियान है जो हमारी उस शक्ति और प्रवृत्ति को चिह्नित करता है जिसके जरिए हम मानवीय गतिविधियों का एक दायरा बनाते हैं। लेकिन यह दायरा पूरी तरह वायोस्फेयर

(पृथ्वी का जैविक क्षेत्र) के अंदर ही आता है। पियरे तेल्हार्द द चार्दिन का गढ़ा एक शब्द उधार लें तो हम इसे नूस्फेयर या स्फेयर आफ माइंड कह सकते हैं: 'नूज' मस्तिष्क के लिए प्रयोग में आने वाला ग्रीक शब्द है।

यहां यह स्वीकार करना जरूरी है कि इस शब्द को मैं जिस अर्थ में इस्तेमाल कर रहा हूं वह तेल्हार्द द चार्दिन वाले अर्थ से बिल्कुल भिन्न है। जहां तक उनका संबंध है, वे इसे 'प्रतिक्रिया, सचेतन खोज और आत्माओं द्वारा महसूस की जाने वाली एकता का क्षेत्र,' 'खेतों और कारखानों का आकर्षक उमड़ता हुआ ज्वार, वस्तुओं और विचारों की यह विराट, विकासमान भव्य संरचना,' 'भूमंडलीय परतों के गौरवशाली जमाव में एक जैविक भिल्ली' आदि मानते हैं। यह 'सोचने वाली सतह' काफी हद तक 'बायोस्फेयर के बाहर और उससे ऊपर रह जाती है।'⁴¹ लेकिन नूस्फेयर की इस 'आत्माओं द्वारा महसूस की जाने वाली एकता' की संकल्पना का एक ऐसी दुनिया से कोई नाता नहीं बनता जिसका मूल गुण ही थोड़े से लोगों द्वारा ढेर सारे लोगों का शोषण हो और जो परस्पर असहमतियों से बुरी तरह क्षत-विक्षत हो। इसके अलावा 'पदार्थ की विकासमान भव्य संरचना' के लिए ग्रहीय संपदा का एक बड़ा हिस्सा *हजम करते जाना* जरूरी है। इससे भी गंभीर बात यह है कि नूस्फेयर बायोस्फेयर से संसाधनों का दोहन जारी रखता है और न सिर्फ नहीं रुकता है, बल्कि अनिवार्यतः अपना उपजाया सारा जहर उसमें उड़ेलता रहता है। लिहाजा जहां तक इससे मेरा जुड़ाव है, इस नूस्फेयर के 'बायोस्फेयर से बाहर और उससे ऊपर' रहने का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। इसके बजाए मजबूरन इसे सदा-सदा के लिए बायोस्फेयर के भीतर ही रहना होगा। इसके अलावा यह कि इन दोनों स्फेयरों की एक दूसरे से बढ़ती असंगति ही आज की हमारी ज्यादातर परेशानियों की जड़ है। दूसरे शब्दों में, मस्तिष्क का यह क्षेत्र मुख्यतः मस्तिष्कहीनता का क्षेत्र बन गया है। इसे भी एक नाम हासिल होना चाहिए। मैं इसे 'ए-नूस्फेयर' कहना चाहूंगा। यह शब्द 'ए-टम,' 'ए-थीस्ट,' 'ए-ग्वेस्टिक' जैसे शब्दों के ही स्वरूप का है। मेरी दिलचस्पी एक नया शब्द गढ़ने में नहीं बल्कि हमारे युग में मस्तिष्कहीनता के जबरदस्त उभार के प्रति ध्यान खींचने में है; एक गंसी मस्तिष्कहीनता जो एक प्रजाति के बतौर हमारा खात्मा सुनिश्चित कर सकती है। चूंकि यह नूस्फेयर आजकल ऐसी सह-प्रक्रियाओं द्वारा अवरुद्ध हो चुका है, जिन्होंने हमें अपने परिवेश का सामना करने में मदद करना तो दूर, उल्टे अचानक आ टपके ऐसे खतरों के सामने खड़ा कर दिया है कि 'ए-नूस्फेयर' के बारे में सोचना हमारे लिए जरूरी हो गया है।

इसका मतलब यह कि अब हमें प्रतिसंस्कृति (काउंटर कलचर) के बारे में भी चिंतित होना चाहिए। संयोगवश थ्योडोर रोज़ाक, जिन्होंने मेरे खयाल से पहली बार इस शब्द का इस्तेमाल किया था, इसके जरिए यूनाइटेड स्टेट्स जैसे विकसित औद्योगिक समाज में इसके प्रधान आचार-व्यवहार के विरुद्ध और इससे हटकर चलने वाले व्यवहार के सारे रूपों को रेखांकित करना चाहते थे। जबकि मैं इस शब्द का इस्तेमाल अपने समय की इन अमानुषिक सनकों के लिए करना चाहता हूं, जिन्होंने इस बायोस्फेयर को मानवीय निवास के अयोग्य बना दिया और इस क्रम में 'नू-स्फेयर' को भी नष्ट करने पर तुली हुई हैं। संक्षेप में 'संस्कृति' जहां अस्तित्व के अपारगम्य मूल्य की पूर्वधारणाओं और प्रक्रियाओं को व्यक्त करती है, वहीं 'प्रतिसंस्कृति' उन सारी विपत्तियों की सार्वभौमता को व्यक्त करती है, जिन्हें एक प्रजाति के बतौर आज हम झेल रहे हैं।

विडंबना यह है कि उस संस्कृति के पास, जो हमारी बुद्धि का स्रोत है और जिसके आधार पर खुद को *होमोसीपिएंस* (मानव नस्ल) कहते हैं, उस खतरनाक दुर्बुद्धि से आत्मरक्षा का कोई बना-बनाया उपाय नहीं है, जिसने हमें या कम से कम हमारे निर्णयकर्ताओं को *होमो इनसीपिएंस* (अमानव नस्ल) में तब्दील कर दिया है। दरअसल संस्कृति को चाहे जैसे भी समझा जाए, इसकी प्रकृति में ऐसा कुछ है ही नहीं जो इसे प्रतिसंस्कृति में बदले जाने से रोक दे, या फिर पृथ्वी के पर्यावरणतंत्र के साथ इसकी सुसंगतता सुनिश्चित कर दे। लेकिन इस तंत्र की समग्रता पर ही हमारा अस्तित्व निर्भर है और चूंकि जो कृतियां और संस्थाएं हम निर्मित कर रहे हैं, वे इसकी बुनियादी समग्रता के साथ सुसंगत हो भी सकती हैं और नहीं भी हो सकतीं, लिहाजा, यह बहुत स्वाभाविक है कि एक प्रजाति के बतौर हम अधिकाधिक गहरे संकट में फंसे चले जाएं। बल्कि इस आशय के देरों साक्ष्य उपलब्ध हैं कि हम अभी ही ऐसे संकट में फंसे चुके हैं।

संभव है मुझे पोंगापंथी कहा जाए, लेकिन यह निवेदन करने से मैं खुद को रोक नहीं पा रहा कि जिस दुर्गति में आज हम फंसे हुए हैं, उसकी जड़ें ज्ञान की उस किस्म में निहित हैं जिसका उत्पादन हमारे युग के सैन्य उद्योगवाद ने किया है। यह सच है कि ऐसे देरों उदाहरण उस परंपरा को जायज ठहराने के लिए दुहराए जा सकते हैं जिनके मुताबिक सर्वाधिक प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों ने सेना के लिए काम किया है। खुद आइजक न्यूटन को ब्रिटिश वार आफिस द्वारा तोपों की परिशुद्धता सुधारने के काम में लगाया गया था और उनके गति के नियम इस काम के सांयोगिक उपज थे। फिर भी अब यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए।

कि सैन्य कार्य के ज़रिए ज्ञान उत्पादन का रास्ता न तो सर्वाधिक कम खर्च वाला है और न ही काम का यह सबसे सुरक्षित तरीका है। इस प्रक्रिया में जो कुछ हम हासिल करते हैं, वह बर्ट्रेड रसेल के शब्दों में 'बिना बुद्धि का ज्ञान' है, जिससे राबर्ट रेडफील्ड 'अंधियारी रोशनी' कहा करते थे। इससे नतीजा निकलता है कि संस्कृति विज्ञान की आज अगर कोई प्रासंगिकता होनी है तो बेहतर होगा कि वह ज्ञान उत्पादन प्रक्रिया की खोजबीन के बजाए उस चीज के विश्लेषण का जिम्मा ले जो शिक्षा के नाम पर चल रही है। ऐसा करके ही यह उस शिकंजे की व्याख्या कर पाने की आशा रख सकती है, जिसमें हम आज स्वयं को फंसा पा रहे हैं और साथ ही यह खोजने की भी जरूरत है कि अगर हम इस शिकंजे से निकलने की आशा करें तो ऐसा किस आधार पर करें।

4. शिक्षा

दरअसल, शिक्षा को चाहे जैसे भी समझा जाए, यह संस्कृति की अभिव्यक्ति और महत्वपूर्ण सहप्रक्रिया ही है। लिहाजा, संस्कृति के विश्लेषण के क्रम में ही हम शिक्षा की मूलभूत प्रकृति और इसके महत्व को आत्मसात करने की अपेक्षा रख सकते हैं। पहली बात यह कि संस्कृति की तरह शिक्षा भी न तो अंकगणितीय स्वरूप की अवधारणा है और न हो सकती है। इसलिए हमें पूरी कोशिश करनी चाहिए कि हमारा इससे जो तात्पर्य हो उसे यथासंभव विशिष्ट ढंग से व्यक्त करें। अंग्रेजी में इसके लिए एजुकेशन शब्द का प्रयोग होता है। *एजुकेशन शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन के एजूकेयर* शब्द से हुई है, जिसका प्राथमिक अर्थ फाउलर कोश के मुताबिक पालन-पोषण करना या पढ़ाना-लिखाना है। दूसरे शब्दों में, और जैसा कि आमतौर पर समझा भी जाता है, शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके जरिए हर समाज अपनी नई पीढ़ी को अपने मूल्य और आचार-व्यवहार आत्मसात कराता है और इस तरह अपनी निरंतरता बनाए रखने की कोशिश करता है। औपचारिक स्कूली शिक्षा इस मुख्य उत्तरदायित्व का महज एक छोटा सा संघटक है, और वह पृथ्वी के लंबे मानवीय इतिहास के कालखंड में बहुत हाल की खोज है और अब तो यह अत्यंत महंगी भी होती जा रही है। इवान इलिच के मुताबिक शैक्षिक काम को हथियाने वाले पहले लोग शुरुआत के पादरी थे, जो अपने झुंड को हांककर मातृ चर्च के *अलमा-उबरा* (दूध भरे स्तन) तक ले जाते थे और इस झुंड की दूध-झुड़ाई कभी नहीं होती थी। 'यही वजह है कि वे अपने सेकुलर उत्तराधिकारियों

की तरह ही श्रद्धालुओं को अल्यूमीनी कहते हैं, जिसका मतलब दुधमुहें बच्चों के अलावा और कुछ नहीं है।⁴² इस तरह हमें इस बात का अच्छा सुराग मिल जाता है कि ऊंचे स्तर की औपचारिक स्कूली शिक्षा मूलतः इतने पश्चातापहीन परजीवी स्वरूप वाली क्यों हैं कि जिस समाज और मानव जाति को वह चूस-चूस कर बढ़ती हैं, उसी को शक्तिहीन करती हैं। और यह भी हो सकता है कि कभी उसे मार भी डाले। कोई आश्चर्य नहीं कि अभी से संसार को अपने संपूर्ण विनाश का भौतिक साधन निर्मित करने के लिए इतनी मानसिक शक्ति मुहैया कराती है। दूसरे शब्दों में औपचारिक स्कूली शिक्षा ने सत्ता को ऐसे साधन तैयार कराने में मदद की है, जिनके सहारे उनके पास मानव सभ्यता को पूर्णतः नष्ट करने की शक्ति मिल गई है। वस्तुतः 1940 में, जब संपूर्ण विनाश की संभावना हमारी जाति के किसी सदस्य के दिमाग में आई भी नहीं थी, बर्तोल्त ब्रेख्त कह रहे थे :

पुस्तकालयों के भीतर से निकलते हैं हत्यारे
बच्चों को चिपटाए हताश खड़ी माताएं
इंतजार करतीं आकाश टटोलती
देखती हैं प्रोफेसरों की नवीनतम खोजें।

निष्कर्ष यह कि अगर शिक्षा एक प्रक्रिया है, जैसा पहले कहा गया है जिसके जगिण हर समाज अपने लिए निरंतरता तलाशता है, वैसी हालत में औपचारिक स्कूली शिक्षा इसकी एक ऐसी सहप्रक्रिया है जो मानव समाज को अपने उच्छेदन और विनाश की भयानक संभावना मुहैया कराती है। इस तरह औपचारिक स्कूली शिक्षा एक ऐसा उत्प्रेरक बन गई है, जो शिक्षा को 'प्रति-शिक्षा' और संस्कृति का 'प्रति-संस्कृति' में बदलने की प्रक्रिया को तेज कर देती है। अगर पांच लाख से भी ज्यादा प्रशिक्षित वैज्ञानिक और इंजीनियर विश्व भर में सैनिक हथियारों के अनुसंधान और विकास (आर.एन.डी.) में लगे हैं और इस पर सालाना लागत 80 अरब अमरीकी डालर आ रही है तो इस तरह यह हमारी जाति को संपूर्ण विनाश के लिए ही तो तैयार कर रहे हैं। अभी हाल में विकसित 'कनवेंशनल वेपन्स' (शाब्दिक अर्थ: पारंपरिक हथियार) इतने बड़े पैमाने की तबाही और संहार की संभावना से भरे हैं कि अभी तक की मानव सभ्यता के लिए यह बिल्कुल नई बात होगी।⁴³ इसीलिए मैं सैन्य आर.एन.डी. को 'रोगरी एंड डेविलमेंट' (धोखाधड़ी और दानवीकरण) कहना चाहूंगा और इस तरह इसके लिए आमतौर पर इस्तेमाल होने वाली उस प्रशंसात्मक शब्दावली से वचना चाहूंगा। इसके पक्ष में मुझे एक

बात जोड़नी है कि जब हाइड्रोजन बम को बनाने पर विचार हो रहा था जिसे हेल्स बम (नारकीय बम) के बतौर भी जाना जाता है, उस समय पी.एम.एम. ब्लैकेंट ने लुडोविको अरिओस्तो के नवजागरण पर लिखी महत्वपूर्ण रचना 'ऑलैंडो फ्यूरियोसो' की बात दोहराते हुए इसे 'अभिषिप्त युक्ति' और 'मृत्यु का ऐसा घृणित औजार' बताया जो बील्जेबब की विद्वेषपूर्ण हुनर से बनाया जाएगा और 'समूची मानव जाति को नष्ट कर देगा।'⁴⁴

जहां तक मुझे मालूम है, बहुत थोड़े लोगों ने औपचारिक स्कूली शिक्षा को आज की चरम हताशाजनक स्थिति के लिए दोषी ठहराया है लेकिन एक आदमी जिसका नाम मेरे दिमाग में आ रहा है और जिसने पूरी ताकत से इसको आधार बनाकर अपना तर्क प्रस्तुत किया, वह थे : अल्डुअस हक्सले। द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होने के तत्काल बाद उन्होंने, जिसे आमतौर पर शिक्षा कहा जाता है, उसके प्रदाताओं को ऐसी लताड़ पिलाई जो उन्हें अपने पेशे की मूल प्रस्थापनाओं पर पुनर्विचार के लिए बाध्य कर सकती थी। फिर भी जो बात उन्होंने कही, उसे भुलाया जा चुका है :

'मानवता के इन उपकारकों को उचित सम्मान और अभिनंदन मिलना चाहिए, आइए, हम प्रोफेसरों का एक स्मारक बनाएं। इसे यूरोप या जापान के किसी खंडहर हो चुक शहर में बनाया जाना चाहिए और उस कंकाल भूमि के प्रवेश द्वार पर छः सात फीट ऊंचे अक्षरों में ये सीधे-सादे शब्द लिखे जाने चाहिए: **विश्व के शिक्षकों की पवित्र स्मृति में, "सि मानुमेंटस रिक्वा-यरिस, सर्कमस्पाइस।"**'⁴⁵

जब मैंने पहली बार इसे देखा तो आखिर की लैटिन शब्दावली मेरी समझ के परे थी और संभवतः बहुतेरे अन्य लोगों की समझ में भी न आए। इसलिए मैं इसके अर्थ को यहां देना चाहूंगा: 'अगर आप स्मारक खोज रहे हों तो अपने चारों ओर देखिए।' जिस समय हक्सले ने ये शब्द लिखे थे, अपने चारों ओर देखने पर किसी को भी इस तरह की और ऐसी ही अन्य बहुतेरी चीजें देखने को मिल सकती थीं: पंद्रह घंटों के जबर्दस्त हवाई हमलों से एक लाख पैंतीस हजार लोगों की मौत हुई और बमों से जर्मनी का शहर ड्रेस्डेन भस्म हो गया। सोवियत संघ में मृतकों की 'शरीर गणना दो करोड़ पहुंच गई; और जापान में हिरोशिमा और नागासाकी के जले हुए अवशेष ही बच रहे, जहां मरने वालों को मरने में एक पल से भी कम समय लगा और जिसकी छाप आज तक मानव मनोविज्ञान पर अंकित है।

ठीक उसी तरह आज भी अगर हम चारों तरफ देखें तो पहले से कहीं ज्यादा बुरी हालत पाएंगे। सबसे बढ़कर, हमें एक ऐसी दुनिया दिखेगी जो अपने अस्तित्व को तय मानकर नहीं चलती और संभवतः अपनी धज्जी उड़ जाने का इंतजार कर रही है।

यह एक ऐसी दुनिया है जो हर साल तकरीबन एक हजार बिलियन डालर खर्च करके खुद को अपने चिथड़े उड़ा देने के लिए तैयार कर रही है, और ठीक इसी अवधि में अपने तीस करोड़ मनुष्यों को भूख और कुपोषण संबंधी बीमारियों से मर जाने की सुविधा दे रही है। यह आंकड़ा प्रतिदिन बयासी हजार से ज्यादा का बैठता है। इस तरह हमारी दुनिया रोजाना एक हिरोशिमा झेल रही है। दुनिया में आज जो कुछ हो रहा है, और जिसके बारे में उच्च शिक्षकों का भारी बहुमत न ध्यान देता है, न परवाह करता है; जोहान गाल्टुंग की शब्दावली में तो वह हमारे युग का 'मौन विध्वंस' है। यह लोगों को न सिर्फ निगल रहा है, बल्कि अंतहीन ढंग से निगलता चला जा रहा है। 1945 में हुए उस हिरोशिमा विध्वंस से भिन्न, जो महज पल भर में गुजर गया और उस नाज़ी विध्वंस से भी भिन्न, जो यहूदियों के ऊपर कुछेक साल चला, यह मौन विध्वंस उस वक्त तक चलता रहने वाला दिखता है, जब तक दुनिया चरम विस्फोट के लिए जरूरी पर्याप्त संसाधन नहीं जुटा लेती। इस विस्फोट की शुरुआत कर सकने में यह कई साल पहले ही सक्षम हो चुकी है। लेकिन मौजूदा सत्ताएं उस चीज़ को हासिल करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा लगती हैं, जिसे 'ओवरकिल' कहते हैं। लार्ड जुकरमेन के मुताबिक यह ऐसी दुनिया है जो अपने सारे संकटों समेत वैज्ञानिकों द्वारा रची गई है।⁴⁶

बेशक, ये वैज्ञानिक अपने मालिकों का आज्ञापालन कर रहे थे; क्योंकि जो कुछ उन्होंने किया, उसे कर ही न पाते, अगर उन्हें वे संसाधन न मिलते, जिन्हें सिर्फ उनके मालिक उन्हें मुहैया करा सकते थे। फिर भी एक ऐसे काम पर हामी भरने के लिए, जिसके बारे में वे जानते थे कि यह सिर्फ विनाशलीला उपस्थित कर सकता है, उन्हें हमारी आज की स्थिति के लिए कहीं ज्यादा जवाबदेह होना चाहिए।

लेकिन इसका मतलब इससे कुछ ज्यादा भी है। कम से कम वर्तमान संदर्भ में इस पर ज्यादा जोर देना जरूरी है: वैज्ञानिकों का लगातार हमारी जाति का ही नष्ट कर देने की योजनाओं में भागीदार होने से मना न करना, हमारी शिक्षाव्यवस्था की जानलेवा नाकामयाबी जाहिर करता है। सही ढंग से ग्रहण की गई शिक्षा उन्हें बांध और संस्कृति के उच्चतर स्तर तक पहुंचने में मदद करती

है और उन्हें इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वे आग से खेलने से बाज आएँ। दूसरे शब्दों में, ऐसी शिक्षा उन्हें हिंसा के प्रति संवेदनहीन होने से रोकती और दुनिया में अमन को बढ़ावा देती। कुछ ऐसी ही उम्मीद के साथ तकरीबन दो सौ साल पहले यूरोप में एडवर्ड गिबबन ने यह प्रस्थापना रखी थी कि यूरोप अब कभी किसी बर्बर विजेता के अधीन नहीं होगा। उनका तर्क सामान्य था। जो चीज़ उनके लिए 'आधुनिक' युद्ध रही होगी, उसके लिए बहुतेरी कलाओं और विज्ञानों की जानकारी जरूरी थी। युद्ध में बेहतर साबित होने के लिए उस बर्बर को यह सारा ज्ञान प्राप्त करना होता और इस प्रक्रिया में वह बर्बर रह ही नहीं जाता, अथवा इसे वह मिथ्य उम्मीद के रूप में देखता।

गिबबन उसे जिस तरह देख रहे थे, उस बर्बरवाद की अकेली काट थी शिक्षा, जो मनुष्य के पास थी या फिर जिसे वह हासिल कर सकता था। इसका मतलब यह है कि गिबबन के लिए बर्बरता का सतत बढ़ाव शिक्षा के लकवाग्रस्त होने के अलावा और कोई अर्थ नहीं रखता। यह बात हमारे लिए भी सच होनी चाहिए। आज यह स्पष्ट है कि गिबबन जिस बात को लेकर परेशान थे, यूरोप ने खुद वैसे किसी बर्बर के सामने पराजय फिर कभी नहीं झेली। इसके बावजूद बर्बरता फलती-फूलती रही, यूरोप में और दुनिया के उन देशों में भी जो यूरोप के उपनिवेश थे। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में लगातार गहराती हिंसा और जहरीले माहौल को याद कर लेना ही इसके लिए काफी होगा। मानव इतिहास के समापन की संभावना को ध्यान में रखते हुए, जिसके साथ हम जीने के आदी हो चले हैं, आज गिबबन के इस 'दिल को खुश कर देने वाले निष्कर्ष' को नकारने के अलावा हमारे पास और कोई विकल्प नहीं है कि 'संसार के हर युग ने मानव-जाति की वास्तविक संपदा, प्रसन्नता, ज्ञान और सद्गुण को बढ़ाया है।'

मेरी समझ में शिक्षा को ऐसे एकमात्र तरीके के बतौर लिया जा सकता है और लिया जाना चाहिए, जिसके जरिए मानव-जीवन की एक के बाद एक आने वाली पीढ़ियाँ स्वयं को जारी रखने के लिए और विस्तारित करने के लिए आने वाली पीढ़ियों को अपने संस्कार सौंपती हैं। लेकिन अगर आज ऐसा है कि यह निरंतरता सुनिश्चित न रह गई हो और हमारी जाति का संपूर्ण विलोप एक स्पष्ट तकनीकी संभावना बन गया हो तब ऐसा कयास जरूर लगाया जाना चाहिए कि हमारी शिक्षा में कोई बुनियादी खामी आ गई है, इस तरह का कोई दोष, जो भूगर्भशास्त्रीय भ्रंश (फाल्ट) के समतुल्य है। निष्कर्ष यह कि शिक्षा संबंधी आचरण के लिए सबसे ज्यादा करने योग्य कार्य यही हो सकता है कि वह इस भ्रंश की

पहचाने करे, इस पर ध्यान केंद्रित करे और इसे ठीक करने का प्रयास करे। ऐसा करके ही शिक्षा को उस काम में लगाया जा सकता है जो वह सदा से करती आई है। दरअसल यही वह तरीका भी हो सकता है, जिसके जरिए हम मानव-इतिहास की पुनर्स्थापना की योजना बना सकते हैं।

इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए और जिस खास तरह की दुनिया में हम जी रहे हैं, उसे देखते हुए बेहतर होगा कि हम देकार्त के *रेस कोजीतांस* और *रेस इक्स्टेंसा* के अंतर और विभाजन पर जोर न दें, बल्कि चिंतनशील वस्तु और चिंतनहीन वस्तु के बीच अंतर तथा विभाजन पर जोर दें। उनके लिए जो लैटिन शब्द मुझे पता चले हैं, वे हैं- *रेस क्यूरांस* और *रेस इनक्यूरांस*। मैं इनकी व्याख्या इस तरह करना चाहूंगा :

चिंतनशील चीज या रेस क्यूरांस वह चीज है जो देखभाल करती है; घाव भरती है; लगाव रखती है; जो आज की दुनिया के दुःखों से वाकिफ़ है और उनसे संवेदित रहती है; प्रतिबद्ध रहती है और उत्सुक रहती है, वगैरह-वगैरह। उसके ठीक विपरीत चिंतनहीन चीज या रेस इनक्यूरांस ऐसी चीज है जो किसी की परवाह नहीं करती; जो या तो दुनिया के दुःखों से अनजान होती है या उनसे जरा भी संवेदित नहीं होती; जो प्रदूषित करती है, कोई लगाव नहीं महसूस करती; उदासीन रहती है; संतुष्ट पड़ी रहती है, वगैरह, वगैरह। यह द्वैत जिसे मैं प्रस्तावित कर रहा हूं, कोई अमूर्त दार्शनिक फैंटेसी नहीं, बल्कि कगार पर खड़े होने जैसी हमारी स्थिति से उपजी हुई बात है और ऐसी अकेली प्रस्थापना है, जो हमारे सामने मौजूद संकट से पार पाने में हमारी मदद कर सकती है। मेरी संकल्पना की रेस क्यूरांस में देकार्त की रेस कोजीतांस की तरह महज सोचने की क्षमता शामिल नहीं है, बल्कि ठीक-ठीक विचारों की प्रकृति शामिल है, जिन्हें वह सोच पाती है। हमारी आज की दुर्गति की गंभीरता को लेकर संवेदित होने वाली रेस क्यूरांस मौजूदा गैरजिम्मेदार सत्ता गिरोहों के उपजाए अन्याय के प्रति गहरी चिंता रखती है। और इसीलिए स्वभावतः वैधता के उस संकट पर ध्यान केंद्रित करती है, जिसे सत्ता पिरेमिड लंबे समय से झेल रहे हैं और सत्ता के विचारक जिसे ओट में रखने की हरचंद कोशिश में जुटे हुए हैं। देकार्त की रेस कोजीतांस जहां अनेकानेक खास मामलों में मस्तिष्कहीनता की प्रतिमूर्ति हो जाती है, वहीं रेस क्यूरांस, जैसा कि मैं समझता हूं, रेस इनक्यूरांस या चिंतनहीन चीज का एकमात्र प्रतिकारक बनने की ओर अग्रसर होती है और वैसी ही बनी रहती है। और अंततः रेस कोजीतांस की तरह रेस क्यूरांस किसी आत्मसंस्थित कोजीतो को व्यक्त नहीं करती बल्कि

उस सुविचारित और ध्यानपूर्वक लागू की गई सामाजिक और अंतर्दर्शी गतिविधि के ऊपर होती है, जिसे शिक्षा कहते हैं।

इसके ठीक विपरीत रेस इनक्यूरांस आज की विशिष्ट सत्ता द्वारा उपजाए गए अस्तित्व के संकट से या तो अनजान रहती है या फिर लापरवाह। इसीलिए यह अनिवार्यतः और बगैर आगा-पीछा सोचे ऐसे मुद्दों में उलझी रहती है जो हद दरजे के तुच्छ और यहां तक कि नकली हैं। उन्हें वह उन मुद्दों पर प्राथमिकता देती है जो महत्वपूर्ण और मौलिक हैं। यह भी कि जिस तरह के तकनीकी साधन आज उपलब्ध हैं और जैसी चरम विनाशक क्षमता इसके पास है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि रेस क्यूरांस इतनी जहरीली चीज़ हो गई है कि उससे हमारी जाति के संपूर्ण विलोपन की संभावना पैदा हो गई है। लिहाजा कोई भी व्यक्ति जो शिक्षा के क्षेत्र में कुछ करने के बारे में सोचता है, ऐसी विचारहीन या संवेदनहीन चीज को उपजाना जारी नहीं रख सकता।

यहां मामला चेतना के दो प्रकार के स्तरों का नहीं, बल्कि उसकी दो किस्मों का है। ये हैं: अबोध (नेव) और अनालोचनात्मक (अनक्रिटिकल)। ये दोनों शब्द पाओलो फ़ेरे⁴⁷ के हैं, लेकिन इनके इस्तेमाल में मैंने कुछ छूट ली है। अबोध, अनालोचनात्मक या सरलीकरणवाली चेतना मेरे इस्तेमाल के दौरान इतने गहरे उनींदपन जैसी स्थिति को व्यक्त करती है, जिसके कारण पीड़ित व्यक्ति को यथास्थिति के दुष्कर्म्मों का अहसास ही नहीं होता। अबोध चेतनावाला व्यक्ति मौजूदा व्यवस्था में इस हद तक लपेट लिया जाता है कि वह उसकी वैधता को जस का तस स्वीकार कर लेता है। विश्वविद्यालयों की डिग्रियां और एकेडेमिक महत्व की जगहें इस बीमारी से कोई सुरक्षा प्रदान नहीं करते बल्कि इसे और बढ़ाने में मददगार होते हैं। ऐसा इसलिए कि वे यथास्थिति की निरंतरता में ही लोगों का दर्जा ऊंचा कर देती हैं। दरअसल, अगर विश्वविद्यालयों ने हर जगह इस अबोध चेतना को मिटाने और आत्मचेतस, समग्रतामूलक (होलीस्टिक) आलोचनात्मकता को विकसित करने को अपना मुख्य पेशा बनाया होता तो हमें पर्यावरणध्वंस, या विश्वध्वंस का खतरा न झेलना पड़ता। यह अबोध चेतना आज के इस सैन्य उद्योगवाद से हमारी असुरक्षा को बढ़ाने के अलावा और कुछ नहीं कर सकती। खासकर इसलिए भी कि इस अबोध चेतना के उत्पादन के लिए शासक गुटों के पास हर जगह अखबारों, चमकीली पत्रिकाओं, टी.वी. रेडियो आदि जैसे लगातार फैलते हुए शस्त्रागार उपलब्ध हैं। ऐसी चेतना 'छद्म से छद्मतर' होते जाने के लिए बाध्य है और शिक्षा के नाम पर जो कुछ चल रहा है, वह परिश्रमपूर्वक इसी

नजरिए को पैदा करने और विकसित करने की कसरत बन जाने के लिए अभिशप्त है। लेकिन अस्तित्व संकट की जिस चरम स्थिति को आज हम झेल रहे हैं, उसके संदर्भ में ऐसा घटनाटेकू नजरिया महज ऐसी बात नहीं, जिसके चलते नीचे दबे आम लोग शासक गुटों के विचारों और मूल्यों को आत्मसात करते हैं या उनके अवचेतन में गहरे बैठ जाते हैं। फ्रेरे द्वारा वर्णित स्थिति में वे ऐसा ही करते हैं। मामला यह है कि अल्पसंख्यक शासक वर्ग भी बाकी लोगों की तरह एक ऐसी स्थिति में डूबते चले जा रहे हैं, जिसकी दिशा हमारी नस्ल के विलोप की ओर है। इसमें ऊभचूभ करता व्यापक जनसमुदाय उस स्तर तक पतित हो जाने को बाध्य है जिसे 'वेजीटेबल सोल' अथवा 'ऐसा जीवन जिसे अपने बारे में कुछ पता ही नहीं' कहा जाता है। सिर्फ इतनी-सी बात यह जाहिर करने के लिए काफी है कि मृत्यु-निमग्नता आज किस तरह एक विश्वसनीय खतरा बन चुकी है।

इसके विपरीत आलोचनात्मक चेतना जानकारी की इतनी तीक्ष्ण अवस्था की द्योतक है कि इससे लैस कोई आदमी यथास्थिति के प्रबंधकों द्वारा चलाए गए अस्तित्व विरोधी अभियानों और रुझानों को भांपने में कभी चूक नहीं करता। इसे संभव करने के लिए 'संदेह' को मूल कार्यविधिक सिद्धांत के बतौर प्रतिष्ठित करना होगा। लेकिन यहां यह कह देना जरूरी है कि जिस 'संदेह' की बात मैं कर रहा हूं उसे 'देकार्तीय' संदेह से कुछ भी लेना-देना नहीं है जो एक अस्तित्ववादी प्रस्थान बिंदु भर रहा है। शुद्ध तर्क की शब्दावली में यह देकार्त संदेह कोई ऐसी चीज नहीं, जिसे नकारा न जा सके। लिहाजा किसी के लिए भी अपनी प्रस्थापना शुरू करने के लिए यह उचित बिंदु नहीं बन सकता। संदेहास्पद वैधता के आधार पर खड़ा कोई तर्क स्वभावतः उथला हो जाने के लिए बाध्य होता है।

ज्ञानमीमांसा की इस स्थिति का सार-संक्षेप इस प्रकार है: अंतहीन पतन को रोकने के लिए यह जरूरी है कि एक ऐसी स्थिति को पहले से ही मान लिया जाए जिसे सही सिद्ध करना बिलकुल जरूरी न हो। लेकिन यह स्थिति ऐसी भी न हो जिसे कोई और गलत सिद्ध कर दे। जहां तक मेरा मामला है, ऐसी स्थिति देकार्त द्वारा प्रतिपादित संदेह नहीं बल्कि मनुष्य की उत्तरजीविता है। यही मेरा प्रस्थान-बिंदु है। संदेह यहां उस यथास्थिति के विवरणों की जांच-पड़ताल के लिए होता है जो मनुष्य की उत्तरजीविता के लिए खतरा बन गई है। मेरी अवधारणा का संदेह मौजूदा व्यवस्था की *सदाशयता* के खिलाफ केंद्रित है जिसकी असलियत परखने की सतत आवश्यकता मैं मानकर चलता हूं। लिहाजा जहां देकार्त का संदेह उसे राजनीतिक जी हुजुरी की ओर ले जाता है, वहीं मेरा संदेह मुझे सत्ता के विरोध की ओर ले

जाता है। इसके अलावा यही मुझे वह अकेला रास्ता मालूम पड़ता है जिसके जरिए कोई 'आलोचनात्मक चेतना' की क्षमता प्राप्त और विकसित कर सकता है। यह आलोचनात्मक चेतना अबोध चेतना की स्थिति से महज क्रमिक विकास नहीं, बल्कि एक 'क्वांटम' छलांग है, जिसके जरिए कोई व्यक्ति 'बुद्धिसंपन्न आत्मा' और 'चिंतनशील जीवन' का वाहक बनता है। गौरतलब है कि संदेह आलोचनात्मक चेतना सिर्फ उस स्थिति में पैदा कर सकता है जब कोई व्यक्ति उस *सभी कुछ* को ध्यान में रखे जो एक खास संदर्भ में किसी भी तरह महत्वपूर्ण है अर्थात् जब और केवल जब उसके पास एक समग्रतामूलक (होलिस्टिक) नजरिया हो।

ऊपर से देखने पर किसी को भी इतना जोर देना बेकार की बात लग सकती है क्योंकि ऐसा कौन होगा जो यह कहे कि किसी खास संदर्भ में महत्वपूर्ण प्रमाणित किसी भी चीज को विश्लेषण के क्रम में छोड़ दिया जाना चाहिए। लेकिन सिर्फ इतनी सी बात ध्यान में रखी जाए कि मुख्य धारा के विद्वज्जन हमेशा महत्वपूर्ण बातों को पीछे रखकर तुच्छ बातों पर ध्यान केंद्रित करते हैं, तो मेरी अवधारणा में समग्रतामूलक (होलिस्टिक) दृष्टिबिंदु का ज्ञानमीमांसीय महत्व स्वतः प्रमाणित हो जाएगा। फिलहाल हमारी चिंता अपने अस्तित्व पर मंडरा रहे खतरे को मिटाने की है और चिंता की इस प्राथमिकता को स्वतःसिद्ध मानकर चला जा सकता है। ऐसा इसलिए क्योंकि वही ऐसा मूल आधार है जिसे आइंस्टीन के शब्दों में 'तर्क छू भी नहीं सकता'।⁴⁸ दरअसल सारे तर्क इससे ही उपजते हैं। इसी संदर्भ में देकार्त द्वारा निरूपित 'सरलीकरण' की निर्मम आलोचना सर्वाधिक महत्व ग्रहण कर लेती है। यह साबित किया जा सकता है कि यह सरलीकरणवाद (रिडक्शनिज्म) हमारी जाति की अस्तित्व संबंधी, यानी शिक्षा संबंधी प्रतिरक्षा में भारी क्षरण का कारण बना है। और इसके साथ ही हमें उस बौद्धिक और नैतिक शक्ति का हास झेलने को मजबूर किया है, जिसके बगैर एक नस्ल के रूप में हमारा काम नहीं चलने वाला है। लिहाजा मेरे विचार से मौजूदा संकट की अकेली काट यही है कि आत्मचेतस समग्रतामूलक (होलिस्टिक) विश्वदृष्टि के जरिए देकार्त के सरलीकरणवाद (कार्तेजियन रिडक्शनिज्म) को पूरी तरह चलन से बाहर कर दिया जाए।

शिक्षा के संदर्भ में यह मत समग्रतावाद (होलिज्म) को सर्वाधिक महत्व देता है। दरअसल पाओलो फ्रेरे के सूत्रीकरण के अनुसार कोई बौद्धिक प्रयास यदि आलोचनात्मक नहीं है तो उसका शैक्षिक महत्व नहीं है, और यह भी कि वह आलोचनात्मक हो नहीं सकता, यदि वह समग्रतामूलक (होलिस्टिक) नहीं है। उनके

अपने शब्दों में 'कोई खोज सर्वाधिक शैक्षिक तब होगी जब वह सर्वाधिक आलोचनात्मक हो और वह सर्वाधिक आलोचनात्मक तब होगी जब वह यथार्थ की आंशिक या 'सीमित' दृष्टियों से उपजी संकीर्णताओं को धत्ता बता दें।'⁴⁹ मौजूदा यथार्थ आज जिन आत्यंतिक किस्म के खतरों से बोझिल है, उन्हें ध्यान में रखते हुए जितने ज्यादा लोग इस प्रकार के शैक्षिक प्रयास में जुटें, हमारी नस्ल के लिए उतना ही बेहतर होगा क्योंकि यही वह अकेला रास्ता हो सकता है जिस पर चलकर विश्व स्तर के 'विवेकीकरण' (फ्रेरे का शब्द 'कानसेंस्टाइजेशन') की शुरुआत करने की ओर तथा मौजूदा हालात से बाहर आने की ओर बढ़ा जा सकता है। दूसरे शब्दों में यही वह एकमात्र तरीका है जिसके जरिए हम 'प्रतिशिक्षा' को शिक्षा में और 'प्रतिसंस्कृति' को संस्कृति में बदलने की उम्मीद कर सकते हैं। यही वह अकेला तरीका हो सकता है जिसके जरिए हम *रेस इनक्यूरांस* नाम की तलवार को पीट-पीट कर रेस क्यूरांस नाम वाले हल में बदल सकते हैं। इसके अलावा और ऐसा कुछ दिखता नहीं जिसे एक नस्ल के बतौर अपनी उत्तरजीविता सुनिश्चित करने के लिए हम कर सकते हैं।

लेस्ली व्हाइट इस किस्म के दावे पर भड़क उठे होते।⁵⁰ वे शिक्षा को संस्कृति की सहप्रक्रिया के रूप में देखते थे और इसीलिए इस बात पर उनका जोर था कि शिक्षा संस्कृति को प्रभावित करने की बजाए स्वयं संस्कृति से प्रभावित होती है। उनका कहना था कि कसाइयों से कोई यह उम्मीद नहीं करता कि वे शाकाहार का उपदेश देंगे। ठीक उसी तरह मान्यता प्राप्त शिक्षकों से भी इसकी उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे परंपरागत स्कूल शिक्षण के अलावा किसी और चीज की वकालत करेंगे। व्हाइट किसी भी हाल में ऐसे दावे को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे कि शिक्षा सामाजिक बीमारियों का इलाज करेगी।

मेरे खयाल में इस स्थिति के साथ समस्या यह है कि व्हाइट शिक्षा को एक-मूल्य-आधारित अंकगणितीय स्वरूप वाली अवधारणा मानते हैं और उनके समेत ज्यादातर मुख्यधारा के अकादमीशियन इसे घोषित या अधोषित रूप से स्कूल शिक्षा का ही समानार्थी मान लेते हैं। बेशक, औपचारिक 'स्कूल शिक्षा' आमतौर पर यथास्थिति की रक्षा करती है और काफी हद तक उस चीज की ही उपज है जिसे व्हाइट 'संस्कृति' कहते हैं; लिहाजा इससे आम जनजीवन में किसी महान परिवर्तन की उम्मीद नहीं की जाती, इसके विपरीत इसे सब कुछ जस का तस बनाए रखने का एक तरीका भर माना जा सकता है। लेकिन स्थिति उतनी हताशाजनक नहीं है जितनी इस बात से लगती है। क्योंकि शिक्षा सामाजिक

आलोचना का, बौद्धिक असहमति का और अनेक किस्म के प्रतिरोध आंदोलनों, खासकर एक दम निचले स्तर पर (ग्रास रूट) आंदोलनों का रूप भी ले सकती है। इस तरह और केवल इसी तरह देखने पर शिक्षा वह चीज बन सकती है, जिसे बर्ट्रेड रसेल ने 'विद्रोहियों का खमीर' कहा था। उन्होंने कहा था कि कोई भी समाज ऐसे खमीर के बगैर प्रगतिशील नहीं हो सकता। लेकिन उन्होंने इस आशय की एक और बात भी कही थी कि आधुनिक प्रौद्योगिकी के उत्पादों का बढ़ावा 'विद्रोही होने को अधिकाधिक कठिन' बनाता जाता है।⁵¹ यानी यथास्थिति में लोगों को शामिल करना ही शिक्षा का चरम उद्देश्य और उसकी परिणति हो जाता है। दरअसल आधुनिक प्रौद्योगिकी के चमत्कार जैसे-जैसे चामत्कारिक होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे बौद्धिक वर्ग उन संकटों का मुकाबला कर पाने के पूर्वानुमान की क्षमता भी खोता जा रहा है जिन्हें ये उत्पाद अनिवार्यतः अपने पीछे छिपाए हुए हैं। होता यह है कि पहले ये वर्ग यथागति के जरिए खींच लिए जाते हैं और उसके बाद अपरिहार्य रूप से यथास्थिति द्वारा हजम कर लिए जाते हैं।

अतः यदि शिक्षा को सकारात्मक भूमिका अदा करनी है तो उसे आधुनिक प्रौद्योगिकी (टेकनॉलोजी) के रहस्य लोक को छिन्न-भिन्न करने की जिम्मेदारी भी लेनी चाहिए, यहां तक कि उस प्रौद्योगिकी को भी इसे बख्शाना नहीं चाहिए जिसे ऊपरी तौर पर युद्ध से कुछ भी लेना-देना नहीं। इसके बगैर यह विद्रोहियों का खमीर नहीं पैदा कर पाएगी। खमीर अनिवार्यतः बहुत थोड़ी मात्रा में प्रयोग किया जाता है किंतु जिस पदार्थ के साथ उसको मिलाया जाता है, उसे रूपांतरित करने से कभी नहीं चूकता। ऐसा हो सकता है कि मानवीय खमीर उतना असरदार और अप्रतिरोध्य न हो। यह भी हो सकता है कि उसकी सफलताएं अनिवर्तनीय न हों। क्रांतियां सब कुछ के बावजूद अकसर गड़बड़झाले में फंस जाती हैं। यह भी कि प्रतिवादी स्वर हमेशा से मौजूद रहे हैं फिर भी मानवता जैसे-तैसे एक ऐसे संकट के मुकाम तक चली आई है, जैसा इतिहास में कभी देखा नहीं गया है। लिहाजा शिक्षा को आज हमेशा से कहीं ज्यादा प्रतिबद्ध एक ऐसे प्रयास का रूप ले लेना चाहिए जिसके जरिए उन सारे विचारों और भ्रमों को उखाड़ फेंका जाए जो आज मानव अस्तित्व के मूलाधार को ही तहस-नहस करने वाले साबित हो चुके हैं। पाओलो फ्रेरे द्वारा प्रयोग में लाए गए शब्द 'एक्स्ट्रोजक्सन' का तात्पर्य उत्पीड़ितों द्वारा उन विचारों और मूल्यों का सचेत निषेध है, अनवरत रूप से जिनको बनाए रखने का प्रयास उनके उत्पीड़क करते रहते हैं। लेकिन हमारी स्थिति की अत्यंत नवीनता को देखते हुए, जिसमें मानव जाति का हर एक सदस्य एक विस्फोट

प्रभावित व्यक्ति, एक *हिबाकुशा* हो गया है, और लिहाजा समूल विनाश का खतरा झेल रहा है, 'एक्स्ट्रोजेक्सन' का तात्पर्य अब समान रूप से सभी के द्वारा, शोषित और शोषक, सभी के द्वारा—विध्वंस की मौजूदा संस्कृति का सचेत निषेध हो जाना चाहिए। इसका मतलब यह है कि जिस किस्म के आलोचनात्मक पर्दाफाश की जिम्मेदारी की अपेक्षा मैं शिक्षा से करता हूँ, वह उस जिम्मेदारी से कहीं भारी है, जिसकी अपेक्षा फ्रेड इससे करते हैं। वे राजनीतिक आर्थिक सत्तातंत्र की जांच करते हैं, पर इस प्रौद्योगिकीय ढांचे पर कोई सवाल नहीं करते। मुझे उसकी भी जांच करनी है। मैं इसे ऐसे देखता हूँ कि जिस आलोचनात्मक पर्दाफाश की वकालत मैं कर रहा हूँ वह, सर्वोच्च शैक्षणिक कार्यभार होना चाहिए। दरअसल यही एक तरीका है जो आइंस्टीन द्वारा उल्लिखित जानकारी के उस 'चेन रिएक्शन' (शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया) को शुरू कर सकता है जिससे बड़े पैमाने पर विचारवान तत्व का उत्पादन हो और इस क्रम में उत्तरजीविता के लिए न्यूनतम *आवश्यक* स्थिति का निर्माण हो।

जाहिर है कि विद्रोहियों के खमीर की जरूरत पर आज हमेशा से कहीं ज्यादा जोर दिया जाना चाहिए क्योंकि आज हमारी मानवजाति का अस्तित्व ही दांव पर लगा हुआ है। जैसा कि लेस्ली व्हाइट का कहना है, औपचारिक स्कूल शिक्षा उस *किस्म* का सामाजिक परिवर्तन लाने का सर्वश्रेष्ठ तरीका नहीं है जिसकी जरूरत हम इतनी शिद्दत से महसूस कर रहे हैं। लेकिन आमूल परिवर्तनकारी (रेडिकल) शिक्षा, (जिसे खासकर अवज्ञा के आचरण और इसके प्रचार के रूप में समझा जाना चाहिए) अभी यह जिम्मेदारी निभा सकती है, ऐसी उम्मीद की जानी चाहिए। सिर्फ इसी तरह *रेसक्यूरांस* का सतत उत्पादन और विकास सुनिश्चित किया जा सकता है। शुरुआत के लिए उसे बहुत थोड़ी मात्रा में होना चाहिए, बनिस्बत उसके, जिसे कि इसे बदलना है। खमीर के चरित्र में ही यह बात निहित है कि उसे ज़रा सा ही होना चाहिए।

शिक्षा को विद्रोह या विरोध का सतत आचरण बनाने की जरूरत पर भी आज जितना ज्यादा जोर दिया जाए, कम होगा, क्योंकि एक ऐसी दुनिया में, जो पहले से ही विनाश की विराट शक्ति से लैस हथियारों के दबाव से फटी पड़ रही है, विद्रोहियों का खमीर असरदार होने के लिए उस चीज़ के बेहतरीन इस्तेमाल की उम्मीद नहीं रख सकता जिसे मार्क्स ने कभी 'हथियारों के जरिए आलोचना' कहा था। इसके बजाए उसे कहीं ज्यादा उस चीज़ को विकसित करना होगा जिसे वे 'आलोचना का हथियार' कहते थे। लेकिन अकल्पनीय विनाशक क्षमता वाले

हथियारों से भरी इस दुनिया में ऐसा कर पाने के लिए यह बेहतर होगा कि हम संदेह और निश्चितता के स्थानों को एक दूसरे से बदल लें। किसी को यह बात गोल-मोल लग सकती है। लेकिन जैसा कि हांस जोनास का सुझाव है, जिस किस्म की आपदा से आज हम घिरे हैं, वह हमें बाध्य कर रही है कि हम संदेह और निश्चितता के देकार्ती क्रम को पलट दें। कोई फैसला लेने के मकसद से यह बेहतर होगा कि हम इस बात को सुनिश्चित मान कर चलें कि जो संदेहास्पद लग रही हो, फिर भी संभव हो।⁵² इस किस्म की तकनीकी संभावना है: नाभिकीय विध्वंस। बेहतर हो कि हम इसे सुनिश्चित मानकर चलें और इससे छुटकारा पाने के लिए उचित तैयारियां करें। ऐसी ही एक अन्य चीज़ है: पर्यावरण विनाश। ऐसे लोग जिनका इस बात में यकीन है कि 'दुनिया में जो कुछ होता है, अच्छा ही होता है,' इन चिंताओं को महज 'भेड़िया आया,' की चीख-पुकार मानकर खारिज कर सकते हैं। हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है कि पक्के उदासीन जनों की भीड़ मानकर हम खुद उन्हें ही खारिज कर दें।

मूल बात यह है कि जिस किस्म के सरलीकरण और अति सरलीकरण का लेकर देकार्त मगन रहता है, वह खासकर शैक्षिक दृष्टिकोण से बिल्कुल व्यर्थ साबित हो चुका है। विडंबना यह है कि जिस तरह वह सोचने वाली चीज़ का इस्तेमाल सुनिश्चित ज्ञान के उत्पादन में करता है, वह एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र में यथार्थ का संपूर्ण अभ्यंतरीकरण बन जाता है। ऐसा इसलिए भी होता है कि बर्नार्ड विलियम्स जिसे देकार्त का 'पूर्वाधिकृत संदेहवाद' कहता है, उसका उद्देश्य विश्व के बारे में मौलिक और व्यापक सत्य का उत्पादन करना है।⁵³ दरअसल एक शुद्ध वैचारिक प्रयोग के लिए उसने उस सुप्रसिद्ध ईर्ष्यालु दानव का आविष्कार किया और उसे स्वयं अपने निर्माता यानी देकार्त को धोखे में डालने के लिए कमरकसी मुद्रा में खड़ा किया। इस परम धोखेबाज से पहले भी हमारी एक संक्षिप्त मुठभेड़ हो चुकी है और अब हम उसे ज्ञानमीमांसा और शिक्षा के परम शत्रु वाली भूमिका में देखने की कोशिश करेंगे।

चूँकि देकार्तीय दानव की कार्यप्रणाली का सुराग कभी नहीं मिल सकता; लिहाजा, जैसा कि स्वर्गीय ए.जे. आयर ने एक बार कहा था: हम इस मूल विचार को एक रिक्त परिकल्पना के रूप में जारी रहने दें। इसके बावजूद आयर उसे इस बात को कहने का कि सहज विश्वास 'सत्य की' तर्कसंगत 'गारंटी' नहीं है, एक चित्रात्मक तरीका समझते थे।⁵⁴ लेकिन अगर इस मामले में पूरी बात यही है और इससे ज्यादा कुछ लगती भी नहीं तब यह देखा जा सकता है कि देकार्त

ने मानव-मनोविज्ञान की संभावना और उसकी प्रवृत्ति को गलत समझा और उसे कम करके आंका। क्योंकि 'सत्य की तर्कसंगत गारंटी' का यह अथक अभियान उस विश्व की कोई समझ नहीं देता, जिसमें हम रहते हैं, बल्कि एक ऐसी चीज़ पैदा करता है जिसको कभी आइंस्टीन ने 'अनुमान की शुद्धता' के प्रति सम्मोहन तथा 'सत्यतम तर्क के प्रति' पूर्ण बहरापन कहा था।⁵⁵ किसी ऐसे ही अहसास के चलते कवि ई.ई. कर्मिंग्स माहौल में छाई अनुभाषन जैसी सनकों को इस तरह नकारने के लिए बाध्य हुए होंगे :

जब तक मेरे और तुम्हारे पास
चूमने के लिए होंठ और गाने के लिए आवाज़ें हैं
तब तक इसकी परवाह किसे है
कि कोई कुतिया का काना पिल्ला
वसंत को नापने का
कोई औजार खोज लेता है।

इसका तात्पर्य यह है कि वह अंतःप्रज्ञा, (जिसे कोई काना पापरियन 'पीस मीलस्ट' काव्यात्मक चीज बताते हुए खारिज कर सकता है,) अस्तित्वमान यथार्थ के बारे में खंड-खंड सूचनाओं की तर्कसंगतता और उनके सहीपन की गारंटी देने में भले ही विफल रहे, पर उसे संपूर्णतः समझ पाने की और साथ ही हमारी उत्तरजीविता को सुनिश्चित कर पाने की अकेली गारंटी वही है। उसकी अनुपस्थिति में हम सभी उस सुप्रसिद्ध अमेरिकी भौतिकविद जैसे हो जाएंगे जिसका नाम लिए बगैर आइंस्टीन ने एक बार कहा था कि वह 'जानता बहुत ज्यादा है लेकिन समझता बहुत कम है'।⁵⁶

कोई यहां गेटे का, उस महान कवि का, भी उल्लेख कर सकता है जो खुद एक उच्चस्तरीय वैज्ञानिक था और कैसर लियोपोल्ड जर्मन अकेडमी आफ साइंस्टिस्ट्स का सदस्य भी था। उन्होंने उस बात को आस्था या अंतःप्रज्ञा के प्रथम बिंदु के रूप में लिया था कि 'मनुष्य की आंतरिक प्रकृति और बाह्य यथार्थ के बीच, उसकी आत्मा और विश्व के बीच पूर्ण संगति होती है।'⁵⁷ यहां, मेरे विचार से, मनुष्य की अंतःप्रज्ञा उन प्रतिबंधों को व्यक्त करती है जिन्हें सारी मानव-संस्कृतियों ने युगों-युगों से पृथ्वीतंत्र को परिभाषित करने वाले भौतिक प्रतिबंधों को मान्यता देते हुए सर्वथा सहजबोध के तहत खुद पर लागू किया है। हमारे युग की सैन्य औद्योगिक संस्कृति इसका एकमात्र अपवाद है। सर्वथा निरक्षर कवीले

भी अपने शिकार-अभियानों के दौरान हमेशा कुछ अलंघ्य सीमाएं मानकर चलते रहे हैं। दरअसल ऐसे अनुशासन की अनुपस्थिति में पृथ्वी पर मानव-समय के एक छोटे क्षण के लिए भी हमारा जीवित रहना अकल्पनीय होता है। विडंबना यह है कि केवल आज के उच्च साक्षर और शिक्षित माने जाने वाले समाज भी ऐसे हैं, जिन्होंने मनुष्य की अंतःप्रज्ञा को उद्योगवाद और सैन्यवाद की उत्तरोत्तर बढ़ती रंगरेलियों के जरिए भ्रष्ट करके रख दिया, साथ ही बाह्य यथार्थ की संरचना के साथ इसके तालमेल को नष्ट करके एक जाति के रूप में मनुष्य की उत्तरजीविता को भी संकट में डाल दिया है। उदाहरण के लिए दुनिया में गोमांस के सबसे बड़े खरीदार मैकडोनाल्ड्स के लिए जो बात महत्वपूर्ण है, वह है तीन अरब सालाना की सिर चकरादेन वाली मात्रा में हैंबर्गर बेचना, न कि इस मकसद से तीन लाख जानवर पालने के दौरान मध्य और लैटिन अमेरिका के लंबे-चौड़े बरसाती जंगलात का वनाद होना।⁵⁸ लेकिन जंगलों के इतने बड़े पैमाने पर विनाश का एकमात्र अर्थ है, हमारे युग के पर्यावरण-संकट का और गहरा जाना।

इस तरह गेटे ने मात्र सहजबोध के जगह जिस बात को भांप लिया था, उसी ने युगों-युगों से हमें बचाए रखने में हमारी मदद की है। लेकिन जिसे देकार्त का सहजबोध के विरुद्ध खड़े होने का सहजबोध कहा जा सकता है, वह यथार्थ के गलत बोध का प्रमुख स्रोत बन गया है, और इसीलिए स्वभावतः गलत शिक्षा का भी। इस तरह यह अस्तित्व का संकट हमारे सामने है। अल्बर्ट आइंस्टीन जैसी हस्ती का इसका बारे में कहना है कि ये मानव-मेधा की 'मुक्त' यानी अंतःप्रज्ञात्मक खोजें ही हैं जिन्होंने अ-तुच्छ ज्ञान का सृजन करने में हमारी मदद की है। उनका एक बहुउद्धृत अंश इस प्रकार है: 'भौतिकशास्त्री का सर्वोच्च कार्यभार उन सार्वभौम, प्राथमिक नियमों का खोज निकालना है, जिनके जरिए ब्रह्मांड को शुद्ध निगमन विधि से निर्मित किया जा सके। उन नियमों तक पहुंचने का कोई तार्किक रास्ता नहीं है; केवल ऐसी अंतःप्रज्ञा, जो अनुभवों की संवेदशील समझ पर आधारित हो, वही उन तक पहुंच सकती है।'⁵⁹ आइंस्टीन हमें याद दिलाते हैं: 'इस सत्य का कि ज्ञान केवल अनुभव से नहीं फूट पड़ता, बल्कि पर्यावेक्षित तथ्य की तुलना मेधा की खोजों के साथ करने के क्रम में यह होता है: एक खास उम्दा मिसाल है कंप्लर के नियमों का सूत्रीकरण⁶⁰ का सिद्धांत। यथार्थ की एक नई परिभाषा का भान हुआ तो वे चिल्ला पड़े 'ओ मी रिडिक्यूलम।' और उनकी यह चीख 'ओह, कितना हास्यास्पद हूं मैं' जिसने समझ के सर्वथा नए क्षितिज खोल दिए, विज्ञान के इतिहास में बार-बार दोहराई गई होगी। इसका मतलब यह कि वैज्ञानिक

के लिए हमेशा यह बताना न संभव है और न जरूरी कि वह एक खास नतीजे पर कैसे पहुंचा। एन. रिकोफर्मी अक्सर 'ऐसा कैसे हुआ? हमें समझाइए' जैसे सवाल का सामना करते हुए सिर्फ इतना कहते थे: 'मैं इसे सी.आई.एफ. के आधार पर जानता हूं।' इटैलियन में इस सी.आई.एफ. का पूरा रूप है *कान इंट्यूशिया फारमिडेबुल*, जिसका मतलब है 'दृढ़ सहज बोध के साथ'⁶¹ और बेशक, सहजबोध ऐसे कुछ सर्वाधिक विकट मामलों में से एक है जो मौलिक ज्ञान के उत्पादन की दृष्टि से निर्णायक सिद्ध हुए हैं जैसे भौतिकी में नील्स बोर का अनुपूरकता सिद्धांत। बताया जाता है कि वे अपने बेटे को बार-बार की जाने वाली एक गलती की सजा देना चाहते थे। पिता के कर्तव्य और बेटे से लगाव दोनों द्वारा बंधे हुए प्रेम के आलोक और न्याय के आलोक दोनों में ही क्या उसे *एक साथ देख सकते थे*?⁶² लेकिन सहजबोध से उपजी अंतर्दृष्टि का लेखा आइंस्टीन के प्रसिद्ध $E = MC^2$ के उल्लेख के बगैर कतई पूरा न होगा। क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि उनके सापेक्षता सिद्धांत की आधारशिला तब रखी गई थी जब युवा आइंस्टीन ने अपना वह युग निर्माता *गैडानकेन एक्सपेरिमेंट* किया था, जिसमें उन्होंने खुद के बारे में यह कल्पना की थी कि वे 1,86,000 मील प्रति सेकंड से चलती एक परातरंग के साथ सफर कर रहे हैं।⁶³ वायरन ने एक बार कॉलरिज से पूछा था 'अपनी व्याख्या की व्याख्या करें'। उनका यह प्रश्न एक असंभव बात की मांग करना भी हो सकता था।

दूसरे शब्दों में, अंतःप्रज्ञा को सीमाबद्ध करना या इससे पूरी तरह पीछा छुड़ा लेना 'ग्नोस्टीसाइड' से कम नहीं है; यह ऐसा शब्द है 'जिसे मैंने' ज्ञान की हत्या पर जोर देने के लिए इस्तेमाल किया है, जो शिक्षण के नाम पर लगातार की जा रही है। मेरे विचार से शिक्षा और शिक्षा के दर्शन के लिए इसे सर्वाधिक चिंता का विषय होना चाहिए।

जिस ग्नोस्टीसाइड की चर्चा मैं कर रहा हूं, उससे तात्पर्य महज ज्ञान की हत्या का ही नहीं है; बल्कि इससे बड़ी बात, शिक्षा के विनाश की संभावना से भी है। इसका नतीजा यह हो रहा है कि हमारे युग के सैन्य उद्योगवाद जैसी चेतुवी बात को आधुनिकता और सांस्कृतिक उन्नति के मूल तत्व के रूप में चलाया जा रहा है। मेरा दावा है कि इन सबको सीधे देकार्त से जोड़कर देखा जा सकता है, जो संश्लिष्ट और अंतःप्रज्ञात्मक जीवनबोध को ऐसी विश्वदृष्टि के लिए खारिज कर देता है, जो इस हद तक विश्लेषणात्मक और यांत्रिक है कि एक स्वतंत्र परिघटना के रूप में जीवन का अस्तित्व ही खत्म हो जाता है। अपने *डिस्कोस आन मेथड*

के पांचवें भाग के अंत में उसने कहा है कि जानवर—हड्डी, मांस, स्नायु, रक्तवाहिकाओं और पशु शरीर में पाए जाने वाले अंगों के ढेर से 'बने हुए आटोमेटन या चलती-फिरती मशीनें हैं (सी.एस.एम. I, 139)। केवल ईश्वर के हाथों बने होने के कारण यह आटोमेटन मनुष्य के हाथों बनी मशीनों की अपेक्षा 'कहीं बेहतर बने हैं' और उनकी अपेक्षा खुद में कहीं आश्चर्यजनक गति समेटे हुए है। फिर भी जो बात महत्वपूर्ण है, वह है तार्किकता, जो जानवरों के पास कम हो, सो बात नहीं, बल्कि उनके पास है ही नहीं (सी.एस.एम. I, 140)। इसके अलावा यह बात कि कुछेक जानवर अपनी गतिविधियों में आदमी से ज्यादा कौशल दिखाते हैं यह सिद्ध नहीं करती कि उनके पास बुद्धि है क्योंकि यह बुद्धि नहीं सिर्फ अंग संचालन है जो उन्हें कुछ काम हमसे बेहतर कर लेने देता है। यह ठीक वैसे ही है जैसे एक घड़ी हो, जिसमें सुई स्प्रिंग और चक्के हैं, बुद्धि बिल्कुल नहीं है। यह 'घंटों की गणना कर सकती है और अपनी समूची बुद्धि के बावजूद हम समय का जितना शुद्ध अनुमापन कर सकते हैं, उससे कहीं बेहतर अनुमापन कर सकती है' (सी.एस.एम. I, 141)। जो भी हो, मनुष्य के अलावा अन्य जानवरों के पास मेधा का न होना किसी तरह इस दावे को जायज नहीं ठहराता कि वे मशीनें हैं 'उसके बावजूद यही वह सरलीकरण है जो जीवन के प्रति उपेक्षा और हिंसा के वाहकों के प्रति विक्षिप्ततापूर्ण आकर्षण को बढ़ाते हुए आज की विश्वव्याख्या की ज्यादातर खामियों और असुरक्षाओं के लिए जिम्मेवार हैं।

लेकिन आटोमेटन (स्वचालित यंत्र) के रूप में यह व्यवहार सिर्फ अवैज्ञानिक जीवों तक सीमित नहीं है। बुद्धिमानों की दशा भी यहां कुछ अच्छी नहीं है। छठे मेडिटेशन में देकार्त अपनी सुप्रसिद्ध और मेरे विचार से अत्यंत घृणास्पद तुलना प्रस्तुत करता है, जो 'बीमार आदमी और बुरी बनावट की घड़ी तथा स्वस्थ आदमी और अच्छी बनावट की घड़ी के बीच' है (सी.एस.एम. II, 59)। जीवन के इस सचेत अधःपतन को देकार्त के अपने जीवनकाल में भी चुनौती मिली थी, इसे इंग्लैंड के उन्हीं हेनरी मोर द्वारा 'घातक और हत्यारा भाव' घोषित करके खारिज कर दिया गया था, जो देकार्त के समकालीन थे और कभी उसके उपासक रह चुके थे। सिर्फ इस बात को आधार बनाते हुए ही मोर ने महसूस किया था कि देकार्त की बुद्धिमत्ता का चमकता खड्ग 'ऐसा तीखा और निर्मम हो गया है कि उसने अपने एक बार से पशुओं की समूची जाति का जीवन और बोध खत्म करके उन्हें पथरीली मूर्तियों और मशीनों में बदल दिया है।'⁶⁴ या फिर जैसा विज्ञान के एक इतिहासकार आर.एस. वेस्टफाल का मानना है: देकार्त और उसके अनुयायियों ने कम से कम

बोध के स्तर पर 'जीवन को पूरे ब्रह्मांड से ही' गायब कर देने का प्रयास किया था।⁶⁵

मेरे विचार से आज जो अस्तित्व का संकट हम झेल रहे हैं, और शिक्षा का संकट जिसका सिर्फ एक अंग है, *जीवन के इस अधोपतन और उसकी ऐसी उपेक्षा की शब्दावली में ही व्याख्यायित हो सकता है।* इसे देखना बहुत आसान है। जीवित प्राणियों को महज यांत्रिक आटोमेटन के रूप में लेना, एक कुत्ते को महज भौंकने वाली मशीन के रूप में लेना, उसे अलग किए जा सकने वाले अंगों को जोड़कर बनाई चीज मानना है। यह जैविक और समग्र इकाइयों के रूप में उनका निषेध है। लेकिन यह गलत बोध एक अन्य और इससे कहीं ज्यादा गंभीर किस्म के गलत बोध की ओर ले जाता है। इसके चलते स्वयं पृथ्वीतंत्र को एक जटिल, जीवंत जैविक वस्तु के रूप में देखा जाना खत्म हो जाता है। इसके बजाए इसे आटोमेट्स (भले ही वे ईश्वरकृत हों) और अजैव द्रव्य के टुकड़ों के संग्रह के रूप में लिया जाने लगा है, जिसके साथ बगैर किसी दंडभय के बलात्कार किया जा सकता है। ऐसा इसलिए भी कि हेनरी मोर के शब्दों में द्रव्य 'स्वयं निष्क्रिय और जड़ है'।⁶⁶ लेकिन प्राचीन बुद्धि ने जिसे सहज बोध से जान लिया और आधुनिक पर्यावरण विज्ञान ने जिसे अंतिम तौर पर स्थापित कर दिया है, वह तथ्य यह है कि पृथ्वीतंत्र एक संपूर्ण और समग्र सुपर आर्गेनिज्म (सर्वोच्च जैविक संघटन) है। दरअसल अब हमारा अस्तित्व ही हमारी इस क्षमता पर निर्भर है कि हम एक सुपर आर्गेनिज्म के रूप में इसे किस हद तक सुरक्षित रख सकते हैं।

जाहिर है कि अपने सहजबोध के आधार पर ही मनुष्यों ने लंबे समय तक पृथ्वी को एक जीवित तंत्र माना। क्योंकि अगर वे ऐसा न मानते तो इन चालीस हजार वर्षों तक जीवित न रह पाते (ऐसा समझा जाता है कि इतने दिनों से ही इस धरती पर मनुष्य का विज है), बल्कि कहीं कम अवधि तक वे जी पाते। इसीलिए एक जीवित पृथ्वी का विचार मानव जाति का बुनियादी और लगातार बना रहने वाला विचार रहा है, यद्यपि यह सहज बोध से ही उपजा विचार है। फिर भी चाहे जितनी सशक्त सही पर यह महज एक भावना रही है। किसी तरह इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता था कि पृथ्वी एक जीवित तंत्र है। इसके बावजूद इस भावना में प्राचीन यूनानियों को न सिर्फ पृथ्वी को एक देवी मानने को, बल्कि उसे गाइआ तथा गे-दो नाम देने को भी विवश किया। इस विचार को अब जेम्स लवलोक ने पुनर्जीवित किया है जो प्रसिद्ध गाइया परिकल्पना के जनक माने जाते हैं। किसी धार्मिक विश्वास की तरह वे कहते हैं; यह भावना कि धरती माता सदा जीवित

रहती है, हमेशा से और आज भी वैज्ञानिक रूप से अपरीक्षणीय रही है और इसीलिए अपने संदर्भ में इसका और ज्यादा तार्किकीकरण संभव नहीं है।⁶⁷

शायद उसी दुष्ट दानव द्वारा बाध्य होकर रने देकार्त एक खांटी वैज्ञानिक द्वारा (जो फैलो आफ रायल सोसायटी भी है) लिखी गई किताब में ऐसा वक्त्सव्य देखकर भड़क उठता। प्राचीन सहजबोध की रूढ़िवादी वैधता को और इस तरह पृथ्वी को देवी या माता मानने की अवधारणा को भी नष्ट करने के लिए अपने स्तर पर वह जो कुछ कर सकता था, उसने किया। "सबसे पहले इस पर गौर करें कि 'प्रकृति' से मेरा तात्पर्य किसी देवी या अन्य किसी काल्पनिक सत्ता से नहीं है" (सी.एस.एम. I, 92)। वह आगे बताता है कि प्रकृति सिर्फ द्रव्य है; और हम जानते हैं कि द्रव्य उसके लिए महज स्पेस में विस्तार है; यानी यह सिर्फ विभीष्यता है। इसे इस तरह लेने पर मनुष्य जब प्रकृति को निर्जीव करते हैं या अन्य तरीकों से उस पर हमला करते हैं तो न उन्हें अपने ऊपर रोकटोक रखनी चाहिए और न इसके ऐसे किसी परिणाम से डरना चाहिए जिसे लेकर आगे कभी उन्हें अफसोस हो।

लेकिन पीछे मुड़कर देख सकने की स्थिति का लाभ लेते हुए आज हम यह जानते हैं कि चीजें उस दिशा में नहीं बढ़ी। इसके ठीक विपरीत हमें ऐसे कई अत्यंत गंभीर परिणामों के लिए अफसोस करना पड़ रहा है, जो स्वयं जीवन में अंतर्निहित अनुल्लंघनीयता की सतत और मुखतापूर्ण उपेक्षा से अनिवार्यतः उत्पन्न होने वाले हैं। तात्पर्य यह कि जीवंत जैव संरचनाओं को महज मशीनी आटोमेशंस के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए क्योंकि यह अकला काम ही समूचे पृथ्वीतंत्र को अपनी किसी जीव-संरचना से रहित महज आटोमेशंस के संग्रह के रूप में लेने की स्थितियां तैयार कर देता है। इसी क्रम में यह युगों से संचित अंतःप्रज्ञात्मक अंतर्दृष्टि को नष्ट कर देता है और ठीक उसी समय अपने परिवेश की बुनियादी प्रकृति को लेकर सर्वाधिक भयानक किस्म के अज्ञान और निरक्षरता को जन्म देता है। इसका मतलब यह भी है कि उस बौद्धिकतावादी और भारी फंड से चलने वाले प्रयास को भी, जो इस अज्ञान और निरक्षरता को मिटाने की कोशिश नहीं करता और जीवन के प्रति बुनियादी निष्ठा को उद्देश्य के रूप में प्रतिष्ठित नहीं करता, महज एक खास धंधे में लगे लोगों की बड़बोली दिखावेवाजी मानकर दरकिनार कर देना चाहिए और शिक्षा के रूप में इसे कतई स्वीकार नहीं करना चाहिए।

मूल बात यह है कि शिक्षा को प्रामाणिक होने के लिए हमारे क्षतविक्षत

दुःस्वप्नवत् समय के अस्तित्वगत नीतिशास्त्र का सतत आचरण बनना चाहिए। यानी इसे *चिंतनशील वस्तु* की अभिवृद्धि तथा साथ ही साथ *चिंतनहीन वस्तु* को क्रमिक रूप से कमजोर करने और अंततः उसे समाप्त कर देने की योजना बनना चाहिए। इसी संदर्भ में मनुष्य और प्रकृति के शोषण के विचार को अस्तित्व विरोधी मानते हुए, अक्षम्य अनैतिक कर्म के बतौर खारिज कर देना चाहिए। दरअसल, शोषण करने की स्थिति में मौजूद कोई व्यक्ति अनिवार्यतः संपूर्ण के बारे में अनजान या उससे निश्चिंत रहता है तथा तात्कालिकता और संकीर्णता में फंसा रहता है। सरलीकरण का इसके अलावा कोई मतलब नहीं है। यह दरअसल इसी सोच का व्यवहार है। वे जो पृथ्वी से बलात्कार करते हैं और वे जो स्त्री से बलात्कार करते हैं, दोनों में एक चीज साझी होती है: क्षण को बहुत बड़ा मानने की अंधदृष्टि और अपने शिकार के भविष्य को लेकर रुग्ण किस्म की निश्चिंतता। वे मानकर चलते हैं कि जिससे वे ऐसा व्यवहार कर रहे हैं, वह जीवित व्यक्ति नहीं; बल्कि निर्जीव वस्तु है। बहरहाल यदि पृथ्वी को निर्जीव वस्तु मानना जारी रहा तो बहुत दिन तक यह जीवित व्यक्तियों का घर नहीं रह पाएगी। अन्य बातों के अलावा यह दृष्टि उस अस्तित्वगत नीतिशास्त्र को अपाहिज बना देती है जिसकी जरूरत हमें आज इतनी बुरी तरह महसूस हो रही है। वैज्ञानिक कैरोलिन मर्चेंट ने लिखा है, जब तक पृथ्वी को जीवित और संबन्धनशील माना जाता रहा है तब तक इसके खिलाफ किए जाने वाले विनाशकारी कार्यों को भी मानवीय नैतिक व्यवहार का उल्लंघन माना जाता रहा है।⁶⁸

लेकिन सरलीकरण की प्रवृत्ति के उभार के साथ महज नीतिशास्त्र का पतन नहीं शिक्षा का पतन भी जुड़ा है। क्योंकि शिक्षा के नाम पर आज जो कुछ चल रहा है वह ऐसी विशिष्टता हासिल करने का कार्यक्रम भर है, जिसमें कोई लोच नहीं है और जिसे वस्तुतः मनुष्य के पाशवीकरण का कार्यक्रम भी माना जा सकता है। इसे देखना आसान है क्योंकि :

अगर हम यह याद रखें कि हर पशु एक विशेषज्ञ है, वह भी प्रवीण किस्म का, क्योंकि उसकी सारी ज्ञान क्षमता एक खास कार्यभार पर लगी हुई है तो हमें इस नतीजे पर भी पहुंचना चाहिए कि ऐसा शैक्षिक कार्यक्रम जो सिर्फ विशेषज्ञ बनाने की ओर, अधिकाधिक विशिष्ट क्षेत्र में अधिकाधिक प्रवीण विशेषज्ञ बनाने की ओर ले जाए और अपनी विशिष्ट योग्यता से बाहर के किसी भी मामले में फैसला देना उसके लिए संभव न हो तो अनिवार्यतः इसे-

मानव मस्तिष्क और मानव-जीवन के पाशवीकरण का कार्यक्रम माना जाना चाहिए। 'संक्षेप में यह कि' विशेषज्ञता की यह पूजा मानव-जीवन का अमानवीकरण कर रही है।⁶⁹

न सिर्फ यह मनुष्य का अमानवीकरण करती है बल्कि अब तो उसके संपूर्ण विलोप का खतरा भी पैदा कर चुकी है। यही वजह है कि ऊपर मैंने यह सुझाव दिया कि शिक्षा की किसी ऐसी अवधारणा को, जो फर्जी नहीं है, खुद को आत्मसातत्य के मानवीय प्रयास के रूप में लेना चाहिए। अगर आज इस सातत्य की संभावना कम होती दिखती है तो इसका मतलब यह है कि शिक्षा भी अपनी विरोधी चीज में बदल चुकी है। यह देखना भी दिलचस्प है कि यह प्रतिशिक्षा चाहे कितने भी ऊंचे पाए की क्यों न हो, ऐसे लोगों की कोई परवाह नहीं करती, जो अपनी पूर्ण चिंतनशक्ति का इस्तेमाल करते हैं, या जो इसकी कमियों को दूर कर सकते हैं। यह आदमी के आधे दिमाग को ही काम में लगाती है और बाकी आधे से ज्यादा हिस्से को, जो कल्पनाशील हिस्सा है, चिर निद्रा में सुलाए रखती है।

इससे पहले कि किसी को यह कोई साजिशाना बात लगे, मैं सुप्रसिद्ध मनोजीववैज्ञानिक रोजर स्पेरी के काम का संक्षिप्त हवाला देना चाहूंगा। उन्होंने यह प्रस्तुत करके नोबल पुरस्कार प्राप्त किया है कि मानव मस्तिष्क के बाएं और दाएं गोलार्द्धों में से हर एक के साथ अलग-अलग और विशिष्ट किस्म की विचारणाएं जुड़ी होती हैं। उनके मुताबिक बायां गोलार्द्ध शाब्दिक तथा गणितीय है तथा विश्लेषणात्मक, प्रतीकात्मक और कंप्यूटरीय स्वरूप के कार्य-कारण तर्कों के ज़रिए काम करता है। इसके ठीक विपरीत दायां गोलार्द्ध स्थानबोधी तथा अभाषिक है तथा संश्लेषणात्मक और स्थानबोधी किस्म की सूचनाओं को पकाने में लगा रहता है और इसका स्वरूप ऐसा है कि कंप्यूटर में इसकी कोई प्रतिछवि नहीं बन सकती।⁷⁰ जिस अध्याय में यह बात है वह इस उद्धरण से शुरू होता है कि 'वस्तुतः हमारे मूल्य कहां से आते हैं'। स्पेरी के तर्क के साथ समस्या यह है कि यहां दायां गोलार्द्ध ही हमारे पास मौजूद एकमात्र 'मूल्यनिर्धारक' है।

चूंकि मैं जीववैज्ञानिक नहीं हूं और मनोवैज्ञानिक भी नहीं हूं, लिहाजा इस तर्क के तकनीकी विस्तार में जाने की मेरी स्थिति नहीं है। फिर भी यह बात तर्कसंगत निष्कर्ष निकालने में मेरी बहुत मदद कर रही है, और वह यह है कि 'मूल्यों' का जारी रहना आज पूर्णतया जायज माना जा सकता है और साथ ही विमर्श का सम्माननीय आधार भी; और यह भी कि चिंतन का एकमात्र संश्लेषणात्मक और

समग्रतामूलक (होलिस्टिक) स्वरूप ही उन मूल्यों को उत्पन्न कर सकता है जो राबर्ट ओपनहाइवर के मुताबिक 'बहुत बेचैन और कटी-फटी इस दुनिया के लिए खासतौर से उचित सिद्ध हों'। जहां तक मेरा सवाल है, बायां गोलार्द्ध इस तरह सेलीब्रम के बाएं हिस्से को जाहिर नहीं करता बल्कि सरलीकरणवाद (रिडक्शनिज्म) के लिए और *रेस इंक्यूरांस* के सतत विस्तार के लिए प्रयुक्त होने वाली एक पैथोलॉजिकल 'संज्ञा' है। ठीक उसी तरह दायां गोलार्द्ध मेरे लिए कुछ और नहीं बल्कि आत्मचेतन समग्रतामूलक (होलिस्टिक) और इसीलिए मूल्योन्मुख विचारणा को, यानी रेस क्यूरांस के उत्पादन और विस्तार को व्यक्त करता है। इसका तात्पर्य यह है कि मानव-मस्तिष्क की कार्यप्रणाली को लेकर प्रोफेसर स्पेरो की अंतर्दृष्टि का शैक्षणिक, दार्शनिक और जीवविकासशास्त्रीय मूल्य इतना अधिक है कि इस पर जितना भी जोर दिया जाए, कम है।

5. लोकतंत्र

यह स्वभाविक है कि जिस युग ने संस्कृति और शिक्षा जैसी अस्तित्वगत अनिवार्यताओं के निषेध को जन्म दिया है, वह अपने कुप्रबंधन के लिए लोकतंत्र का उपहासास्पद प्रहसन भी प्रस्तुत करे। लेकिन यहां हम यह भी ध्यान में रखें कि शिक्षा और संस्कृति की भांति लोकतंत्र भी कोई अंकगणितीय अवधारणा नहीं है, यानी 'संस्कृति' और 'शिक्षा' की तरह 'लोकतंत्र' भी एक किस्म का अवधारणात्मक होल्डाल है और इसके जितने भी मायने लगाए जाते हैं उनमें से वह अर्थ जो इसे महज सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के बतौर परिभाषित करता है, सर्वाधिक शार्टकट यानी सर्वाधिक अतिसरलीकृत और इसीलिए सर्वाधिक धोखा भरा है। यह अकारण नहीं कि इसी अर्थ को सबसे ज्यादा स्वीकार किया जाता है। ऐसी स्थिति में बेहतर हो कि इस खास किस्म के सरलीकरण के खतरनाक नतीजों की जांच की जाए जिसको इतने लंबे अर्से से अकादमिक राजनीतिशास्त्र प्रचारित करता रहा है।

जाहिर है कि राजनीतिशास्त्र की मुख्यधारा इस किस्म की जांच अपने जिम्मे नहीं ले सकती। क्योंकि यह मानकर चलती है कि लोकतंत्र के अस्तित्व के लिए सार्वजनिक वयस्क मताधिकार आवश्यक शर्त है, और यही इसके लिए पर्याप्त शर्त भी है। इसके जरिए मुख्य धारा विचारधारात्मक हमलों को विफल करने में

कामयाब हो जाती है। वह इस महत्वपूर्ण तथ्य को छिपा ले जाती है कि मताधिकार चाहे कितना भी व्यापक क्यों न हो, जनता को सत्ता और निर्णय प्रक्रिया में किसी भी किस्म की भागीदारी से मूलतः बाहर कर दिए जाने का कोई इलाज पेश नहीं करता। वास्तव में चुनाव में लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली का किसी भी किस्म का आमूल ढांचागत रूपांतर दांव पर नहीं लगा होता, इसके बजाए सारा टकराव इस बात को लेकर होता है कि राजनेताओं के प्रतियोगी गुटों में (जिन्हें राजनीतिक पार्टी कहा जाता है) कौन सा गुट या कोई अवसरवादी गठबंधन सत्ता पर काबिज हो पाएगा। दावा चाहे कितनी भी ऊंची आवाज में किया जाए, सच्चाई यह है कि इसमें उसूलों का कोई मामला नहीं होता, व्यक्तियों पर ही सब कुछ निर्भर करता है। लिहाजा स्वाभाविक है कि चुनाव की समूची कसरत, जो निश्चित अंतराल पर बार-बार की जाती है, एक धोखा बनकर रह जाए और ऐतिहासिक प्रक्रिया के लिहाज से रत्ती भर भी अर्थप्रद न सिद्ध हो। इसमें यथास्थिति का रूपांतर नहीं बल्कि इसे बनाए रखने या इसके कुप्रबंध की बात ही निहित है, फिर भी चुनाव में पैसा लगाने वाले राजनेताओं और व्यावसायिक घरानों की किस्मत का फेरबदल होता रहता है। लिहाजा यह कसरत धोखा भरी होने के बावजूद अत्यंत महत्वपूर्ण होती है।

यह बात काफी हद तक इस स्थिति (फेनोमेनो) को स्पष्ट कर देती है कि भारत में परस्पर प्रतियोगी कुलीन वर्ग चुनाव में अपनी क्षमताभर धन खर्च करने से गुरेज नहीं करते और संभव हो तो बूथ पर कब्जा करने में भी पीछे नहीं रहते। उनकी इस रुचि के बारे में नलिनी सिंह का कहना है कि 1980 में ही उन्होंने लोकतंत्र को पूर्णतः हड़प लेने की वह घटना देखी, जिसमें बैलेट-पेपर की गड़िडियों पर बिना पिन खोले ही मुहर मारी जा रही थी। सकते में आ गई नलिनी सिंह ने जब जीतने वाले उम्मीदवार से (जो बाद में मंत्री भी बना) इसे रोकने के लिए कहा तो उसने हिकारत से जवाब दिया, 'जन-प्रतिनिधित्व कानून में यह कहाँ लिखा है कि यह अवैध है?'⁷¹ बूथ-कब्जा जो खासकर देश के कुछेक बदनाम भागों में बाकायदा एक पेशा बन गया है, काफी पूर्वाभ्यास और योजना की मांग करता है। इसके अलावा चूंकि यह कोई संभ्रांत पेशा नहीं है, अतः इसमें किसी खास उम्मीदवार के लिए 'मतदान करने' हेतु लोगों पर दबाव डालने की क्षमता होनी चाहिए और यदि आवश्यक हो तो शारीरिक हिंसा का इस्तेमाल करने की भी। 'वाहुबल' शब्द का कूट अर्थ यही है। ढेरों चमक-दमक के साथ और बड़े पैमाने पर घपलों के अन्यान्य रूपों और पद्धतियों के साथ जुड़कर यह दुनिया का सबसे

बड़ा लोकतंत्र कहलाने वाली व्यवस्था का निर्माण करता है।

यह तो तय है कि इस व्यवस्था को कार्यरूप देने के लिए प्रतिद्वंद्वी शक्तियों के बीच मतभेद रहते ही हैं जो कई बार तीखे और असमाधेय भी बन जाते हैं, मगर वे सभी हमेशा पूरी सतर्कता से यह ख्याल रखती हैं कि ये मतभेद चाहे जितने तीखे हों, फिर भी पूरी तरह मौजूदा व्यवस्था को वैध मानने के चलते बनी सीमाओं के अंदर ही रहें। अतः आश्चर्य नहीं कि 'दक्षिणपंथी भाजपा से लेकर वामपंथी माकपा तक समूचे विचारधारात्मक इंद्रधनुष में मौजूद तमाम पार्टियां हमारे प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की ओर, और इसके चलते गरीब किसानों, आदिवासियों, बंजारा जातियों और कारीगरों के जीवन के लिए पैदा हो रहे खतरों की ओर आंख मूंद लेते हैं।' रामचंद्र गुहा के अनुसार यह स्वाभाविक है कि 'इन पार्टियों ने अणुशक्ति और बड़े बांधों जैसी संसाधननाशक, पर्यावरण विरोधी और केंद्रीकरण-उन्मुख तकनीकों का बिना आलोचना के समर्थन किया है।'⁷² शायद यह भी एक कारण है कि वी.पी. सिंह की अल्पकालिक अल्पमत सरकार को चाहे 'बाहर से ही' क्यों न हो, संयुक्त रूप से समर्थन देने की बात भाजपा और माकपा दोनों के लिए अकल्पनीय तो क्या असंभव भी न हुई। मेरी धारणा है कि वी.पी. सिंह भी यदि एन-केन-प्रकारेण पिछली लोकसभा को पूर्ण अवधि तक चलाते रहने में सफल हो जाते या अगले चुनाव में उन्हें पूर्ण बहुमत भी प्राप्त हो जाता तो ज्यादा से ज्यादा यही होता कि वे ऐसे लोगों में सबसे कम बुरे साबित होते। उनका इतना भिन्न होना तो बहुत दूर की बात है कि वे गले तक भ्रष्टाचार और बदइंतजामी में डूबी राजनीति में कोई बुनियादी बदलाव ला देते—इससे बहुत कम, कोई रेडिकल सुधार ला पाना भी उनके बस की बात न होती। खैर सिर्फ इतनी उम्मीद लेकर भी मंत्रों मानी जा सकती थीं कि ऐसा होता तो भ्रष्टाचार और दलाली में कुछ कमी आती। लेकिन वी.पी. सिंह भारत के शासक कुलीन वर्ग के अंग हैं और इस वर्ग के सदस्य व्यक्तिगत रूप से सत्ता के अदला-बदली भर ही कर सकते हैं, इस मौजूदा तंत्र की बुनियादी वैधता को खारिज करने की बात तो दूर, उनसे यह अपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि वे इस पर कोई सवाल उठाएं। ऐसे में वी.पी. सिंह की भ्रष्टाचार को लेकर व्यक्तिगत एलर्जी चाहे कितनी भी मजबूत क्यों न हो, अंतिम रूप से इससे कुछ होनेजाने वाला नहीं है।

इस संबंध में स्वीडन की बोफोर्स कंपनी और भारत के बीच हुए उस कुख्यात सौदे को याद किया जा सकता है। सत्ता पर काबिज होने के कुछ ही दिन बाद वी.पी. सिंह ने बोफोर्स से भविष्य की सारी खरीद बंद करने का फैसला लिया और

यहां तक कि ऐसी धमकी भी दे डाली कि अगर उक्त कंपनी उन लोगों की पहचान नहीं करती, जिनको उसने पैसे दिए हैं, और यह सारा पैसा भारत के हवाले नहीं करती तो होवित्जर सौदे पर भी पुनर्विचार का आदेश दिया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यहां सिर्फ उन बातों के औचित्य पर सवाल खड़ा किया जा रहा था, जिनके बारे में सीधे-सादे ढंग से मान लिया गया कि वे एक खास सौदे से जुड़ी सांयोगिक बातें हैं; ठीक उसी समय उस दलाली की अनिवार्यता को सवालियों के दायरे से बाहर कर दिया जा रहा था जो हथियार खरीदने की पागल दौड़ के चलते बने और जो एक समूचे तंत्र का अभिन्न अंग हैं। ऐसी स्थिति में एक खास तोप सौदे के मामले में शामिल घूस के पैसे को लेकर चलाया गया अभियान चाहे कितना भी उत्साहपूर्ण क्यों न हो, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बेकार की कवायद ही माना जाएगा। इससे ज्यादा गंभीर बात यह कि प्रभाव की दृष्टि से यह लोगों को भुलावे में डालने का एक कदम हो सकता है। इसके पीछे ऐसी कोई सोची समझी बात थी या नहीं, यह कोई मुद्दा नहीं है। मुद्दा है, हथियार खरीदने का मौजूदा जुनून, जो देखने में बिला शक देश की सुरक्षा और प्रतिरक्षा के लिए होता है, पर असलियत में राजनीति, नौकरशाही, फौज और व्यापार में लगे ऊंचे पाए के लोगों के खजाने भरने के काम आता है। इसमें महज ठेकेदार और हथियारों के निर्माता ही नहीं, ऐसे बहुतेरे लोग शामिल होते हैं जिन्होंने भारत में फिर विदेशी खातों में प्राप्यकर्ताओं की ओर से घूस के पैसे को ठिकाने लगाने में महारत हासिल कर रखी है। ये सारे सज्जन फौजी सौदों के आदेश और आपूर्ति की एक अंतहीन शृंखला में अपने लिए विशाल और बहुविध लाभों की संभावना देखते हैं।

कुछेक खास मामलों में यह बात साफ जाहिर होती है, जिनमें से एक इस प्रकार है : नवंबर 1989 में एक आस्ट्रियाई संसदीय समिति ने वोस्ट-आलपिन कंपनी (यह सरकार द्वारा अधिगृहीत एक महत्वपूर्ण कंपनी है) के निर्यात संबंधी कारोबार की जांच शुरू की, पकड़े गए कागजात से चालीस लाख अमरीकी डालर के ऐसे 'डाऊन पेमेंट' का पता चला जो 1984 में भारतीय अधिकारियों को सिर्फ इसलिए दिए गए थे कि वे कंपनी के प्रतिवेदन पर विचार कर लें। लेकिन आखिरकार 'कमीशन और ग्रीज मनी' के बतौर कुल चार करोड़ डालर दिए जाने पर सौदा पटा। होवित्जर सौदे में बोफोर्स की प्रतिद्वंद्वी कंपनियों में एक इस कंपनी के पूर्व मैनेजिंग डाइरेक्टर पीटर उंटर बेगर के मुताबिक 'अगर आप ठेका हासिल करना चाहते हैं तो जनरलों और नेताओं को पैसा देना बिलकुल आम बात है। दुनिया भर में आपको यही करना होता है और अगर ऐसा नहीं करते तो इसका अर्थ

यह है कि आप मूर्ख हैं।⁷³ इसके अलावा अब इस बात का प्रमाण भी मौजूद है कि उन्हीं ओलोफ पाल्मे ने (जिन्हें आज संत बताया जा रहा है) बोफोर्स को 5 (पांच) करोड़ स्वीडिश क्रोनर *बर्ग स्लैक्स फाउंडेशन* को इस बात के लिए 'दान देने' को कहा था कि उसने भारत के साथ सौदा पटाने का जिम्मा लिया था। यह फाउंडेशन चूंकि कोई ठोस काम-धाम नहीं करता और यह जितने पैसे की बात है, वह यूरोपीय स्तर को देखते हुए बहुत कम है (मसले हुए आलुओं पर पड़ी जरा-सी मलाई की तरह) लिहाजा यह संभावना बरकरार है कि कोई अन्य बड़ा 'दान' भी प्राप्त किया गया हो जिसका खुलासा होना अभी बाकी है।⁷⁴

पाल्मे ने यह पैसा व्यक्तिगत उद्देश्यों के लिए लिया या राजनीतिक, यह कोई मुद्दा नहीं है। मुद्दा यह है कि शांति के और गरीबों के मसीहा ने *भारतीय* करदाताओं को ऐसे हथियार तंत्र के लिए और ज्यादा कर देने को बाध्य किया जिसे खरीदने के लिए भारत के सत्ताधारी कुलीन कुछ भी करने के लिए तैयार थे लेकिन जिनकी जरूरत क्या है, इसे सिर्फ वही जानते हैं। बोफोर्स की तरह किसी अन्य सामान का कोई भी विक्रेता घूस की रकम का बोझ अपने सामान की कीमत बढ़ाकर क्रेता पर डालता है। अर्थशास्त्री अप्रत्यक्ष करके संघात (इंपैक्ट) और आपात (इंसीडेंट) के बीच प्रायः फर्क करते हैं। इंपैक्ट निर्माता पर पड़ता है जिसे सीधे रेवेन्यू कलक्टर को तत्काल भुगतान करना होता है लेकिन इंसीडेंट्स अंततः उपभोक्ता पर पड़ता है, जिसे चीजों की ज्यादा कीमत देनी पड़ती है। ठीक उसी तरह घूस के पैसों का इंपैक्ट तोप निर्माता बोफोर्स पर पड़ा होगा लेकिन इंसीडेंट्स अनिवार्यतः खरीदने वाली सरकार पर और अंततः जनता पर पड़ा होगा जिसे ज्यादा कर मुद्रास्फीति और डिप्रिवेशन झेलना पड़ा होगा। लेकिन मछली के खून वाले भारतीय निर्णयकर्ता अपने खजानों की बढ़ोतरी और जनता की नीति को लेकर सदैव तत्पर रहते हैं। इसलिए और साथ ही फौजी सौदों में घूस की अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए हमें यह *पहले से ही मानकर चलना चाहिए* कि लेन-देन जरूर हुआ है और ऐसा तब तक मानना चाहिए जब तक सिद्ध न हो जाए कि ऐसा नहीं हुआ है। इसका अर्थ यह है कि समकालीन राजनीति के किसी रेडिकल विश्लेषण को अपना ध्यान भ्रष्टाचार पर, यानी उस संस्था पर केंद्रित रखना चाहिए जिसे भ्रष्टाचार कहा जाता है।

मौजूदा स्थिति की गंभीरता को देख कोई भी यह मानने को बाध्य होगा कि यह दलाली फौजी सौदों के चलते नहीं होती, बल्कि दलाली की संभावना के मद्देनजर इतने भारी फौजी सौदे होते हैं। सहज ही यह देखा जा सकता है कि दलाली के

इस ढांचे का अनिवार्य परिणाम है, वास्तविक लोकतंत्र का क्षरण और राजनीतिक प्रक्रिया का कपटपूर्ण सैन्यीकरण। यह बात भारत जैसे बुरी तरह हथियारबंद देश के प्रबंधकों के आभासी हितों और आज के जाली लोकतंत्र के खिलाफ वास्तविक लोकतंत्र की जरूरत के बीच खिंचती उस खाई की ओर भी इशारा करती है, जिसको पाटना असंभव है। उपरोक्त हित आभासी इसी अर्थ में हैं कि जिस किस्म का सैन्यीकरण आज हो रहा है, वह देश को इस हद तक भिखमंगा बनाकर छोड़ेगा कि इन प्रबंधकों के पास करने को कुछ बचेगा ही नहीं।

यह सारा तर्क मूर्खतापूर्ण कसरत को उजागर करता है जिसका एकमात्र मकसद बोफोर्स को मात्र इस बात के लिए मजबूर करना है कि वह घूसखोरों की पहचान बताए और घूस का पैसा भारत को लौटाए। अगर इस कसरत को जरा भी सार्थक रूप देना है तो इसे फौजी खरीद-फरोख्त को लेकर चल रही रंगरेलियों में जोरदार कटौती करने की मुख्य और प्राथमिक योजना का अभिन्न अंग बनाया जाना चाहिए। अगर ऐसा नहीं किया जाता तो जिस धंधे को ये प्रबंधक लोकतंत्र के नाम पर चला रहे हैं, वह लोक का तंत्र नहीं रह जाएगा, बल्कि फौजी फिजूलखर्ची के कारण होने वाली संसाधनों की बर्बादी के चलते लोक के विनाश का कारण बन जाएगा यानी लोकतंत्र से पतित होकर यह 'लोकनाशतंत्र' बन जाएगा। इसके लिए यह एक फूहड़ शब्द है लेकिन जिस स्थिति को रेखांकित करने की आकांक्षा इसके पीछे है, वह स्थिति भी तो ऐसी है। इसकी बुनियादी बात है: जनता को 'निर्णय प्रक्रिया' से पूरी तरह काट देना और उसके महत्वपूर्ण हितों को चारों तरफ फैली अल्पसंख्यक शासक शक्तियों की सनक के नीचे दबा देना। अभी जो कुछ बचा हुआ है, वह है लोकतंत्र को बचकाने ढंग से एक पांचसाला कर्मकांड के साथ एकरूप कर देना। इसी को शासक लोग चुनाव कहते हैं और बड़ी सफाई के साथ इसमें गोलमाल करते रहते हैं। इससे ज्यादा 'रीडयूस्ड' यानी इससे ज्यादा अति सरलीकृत या कहे कि अति-उपहास्यास्पद 'जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए' शासन की कल्पना असंभव है। दरअसल इसका ऐसा स्वरूप देने देकार्त को दुबारा जिंदा होने के लिए लगभग बाध्य कर सकता है। निश्चित रूप से देकार्त का भूत आसपास कहीं खड़ा शाबासी दे रहा होगा। उसकी आत्मा अमर रही हो या नहीं, लेकिन इस प्रकार कम से कम उसके सरलीकरणवाद ने खुद को अमर जरूर साबित किया है।

ऐसे ढेरों खास उदाहरण यह साबित करने के लिए दोहराए जा सकते हैं कि हर जगह दुर्भाग्यशाली और घातक फैसले कुछ खास लोगों के अत्यंत छोटे गुटों द्वारा लिए गए हैं और ये खास लोग कमोबेश बिना चेहरे वाले ऐसे लोग रहे हैं

जिन्हें नोम चोम्स्की 'द बैकलूम बायस' कहते हैं। 'ऐसे फैसले लेते हुए, वे इस लोकतंत्र पर अपनी गिरफ्त बनाए रखते हैं और यहां तक कि कई बार शक्तिशाली सत्ताधीशों को भी अपना मोहरा बना लेते हैं। इस प्रकार हैरी ट्रूमैन जो संभवतः पूरी गंभीरता से यह मानते थे कि सभी कुछ उनके इशारे पर ही चलता है, जनरल लैस्ली ग्रीव्स के लिए बर्फ गाड़ी के पीछे सवार छोटे बच्चे' जैसी स्थिति में थे। यह उपमा अत्यंत रोचक है क्योंकि पहाड़ से उतरती बर्फगाड़ी के पीछे सवार एक बच्चे की जो तस्वीर ट्रूमैन की उभरती है उसमें यह साफ रहता है कि गाड़ी पर बच्चे का कोई नियंत्रण नहीं होता। यह गाड़ी ऊपर की ओर मुड़ी हुई शक्ल वाली होती है और यह बच्चा इसके चलते आगे कुछ भी देख नहीं पाता, ठीक इसी तरह ट्रूमैन भी इतिहास में अपने आगे जो कुछ है, उसे बिल्कुल देख नहीं पाए थे। आज पीछे की ओर नजर डालते हुए और क्षितिज पर मंडरा रहे नाभिकीय दैत्य को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह उपमा अत्यंत सटीक साबित हुई है। जहां तक मैन हट्टन प्रोजेक्ट के डाइरेक्टर ग्रीव्स की राय का सवाल है, हिरोशिमा पर बम गिराने को लेकर केवल *प्राथमिक जिम्मेदारी* हैसी ट्रूमैन की थी। इसका मतलब यह कि ट्रूमैन का फैसला मुख्यतः अहस्तक्षेप का फैसला था, मूलतः मौजूदा योजनाओं में कोई भी फेरबदल न करने का फैसला।⁷⁵ ये योजनाएं ऐसी थी जिन्हें बनाने में ट्रूमैन ने कुछ नहीं किया था, बल्कि कुछ करने की उनको इजाजत ही नहीं थी।

ट्रूमैन जैसा चुना हुआ राष्ट्रपति अमेरिका के अपेक्षाकृत शक्तिशाली राष्ट्रपतियों में से एक माना जाता है, और अगर उसे इस तरह बंधक बना लिया गया हो, तब उन लोगों को (यानी आम जनता का) कहना ही क्या जिनके पास महज उनको चुनने का अधिकार रहता है। इसके पक्ष में हाइड्रोजन बम (जिसे तब सुपर कहा जाता था) बनाने के अमरीकी फैसले को प्रस्तुत किया जा सकता है। वहस में एक पक्ष वह था, जिसे हर्बर्ट यार्क्स ने बाज या *हाक्स* कहा है। उनका तर्क था कि युनाइटेड स्टेट्स (संयुक्त राज्य अमरीका) को सामान्य एटम बमों का निर्माण और विकास तेज करना चाहिए लेकिन सुपर बनाने का विचार उसे छोड़ देना चाहिए। इस विवाद का दूसरा पक्ष वे लोग थे जो सुपर बम का निर्माण करने के लिए कुछ भी करने को तैयार थे। लेकिन ये दोनों ही पक्ष मिलकर एक कुलीन गुट का निर्माण करते थे, जिनका सारे प्रासंगिक तथ्यों पर पूर्ण एकाधिपत्य था। यार्क हमें यह भी याद दिलाता है कि इस गुट में 100 से ज्यादा लोग शामिल नहीं थे।⁷⁶ (सोवियत सुपर के बारे में फैसला लेने वाले भी इससे

ज्यादा लोग नहीं थे, बल्कि शायद कम ही रहे हों। यहां यह गौरतलब है कि जिस आखिरी बैठक में ट्रूमैन ने सुपर निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने के फैसले पर दस्तखत किए, उसमें छह लोग शामिल थे और वह बैठक मात्र सात मिनट तक चली थी। दुनिया के दूसरे सर्वाधिक ऐतिहासिक महत्व वाले फैसले के लिए यह संख्या बहुत-बहुत कम थी: ऐसा पहला फैसला फ्रैंकलिन रूजवेल्ट द्वारा परमाणु बम बनाने का फैसला था।⁷⁷ अभी तक मैं यह तय नहीं कर पाया हूं कि दोनों फैसलों में कौन ज्यादा ऐतिहासिक था। लेकिन दोनों एक-दूसरे से बढ़चढ़ कर ऐतिहासिक थे और दोनों ने ही मानव-इतिहास को ऐसा झटका झेलने के लिए बाध्य किया है जिससे वह आज तक उबर नहीं पाया। लेकिन हमारी प्राथमिक चिंता इस नैतिक निष्कर्ष को लेकर है कि औपचारिक लोकतंत्र की संस्था ऐसी निर्लज्जता के साथ इतने प्रचंड कुलीनतंत्र के समतुल्य हो जाती है। यह बात भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि जितने संसाधनों पर नियंत्रण और उन्हें उड़ाने की क्षमता आज के कुलीनतंत्री शासकों के पास है, उसे देखते हुए प्राचीन काल के कुलीनतंत्री शासकों की तुलना में इनकी क्षमता ज्यादा खतरनाक है। सी. राइट मिल्स के दिमाग में ठीक यही नहीं, तो कुछ ऐसी ही बात रही होगी, जब उन्होंने कहा था :

नेपोलियन ने फ्रांस के साथ जो कुछ किया, सीजर उसकी अपेक्षा कहीं कम रोम के साथ कर सकता था; और लेनिन ने जो कुछ रूस के साथ किया, उसकी अपेक्षा कम ही नेपोलियन फ्रांस के साथ कर सकता था। ठीक इसी तरह जर्मनी के साथ हिटलर ने जो कुछ किया, उसकी अपेक्षा कहीं कम लेनिन ने रूस के साथ किया था। लेकिन जब सीजर की सत्ता अपने शिखर पर थी, तब भी उस सत्ता की तुलना में कहां ठहरती है, जो सोवियत रूस के निरंतर बदलते भीतरी गुट या फिर अमरीका के अस्थाई प्रशासनों के पास मौजूद है। दोनों ही सर्किलों के आदमी रातोंरात समूचे महानगरों का सफाया कर सकते हैं और कुछेक हफ्तों में सारे महाद्वीपों को ताप-नाभिकीय बंजर में बदल सकते हैं। सत्ता के साधनों का बहुत बड़े पैमाने तक बढ़ आना और निर्णय की दृष्टि से उनका इतना ज्यादा केंद्रित हो जाना यही अर्थ देता है कि छोटे गुटों के फैसले अब कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गए हैं।⁷⁸

यह काफी पहले, 1956 में प्रकाशित बात है और इसके बाद से सत्ता के साधन अधिकाधिक विराट होते गए हैं और इसीलिए अत्यंत छोटे गुटों के फैसले संभावना की दृष्टि से और वास्तविकता के लिहाज से भी हमेशा से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण

और खतरनाक हो गए हैं। एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिंदु शायद मिल्स यहां बचा ले गए हैं और वह यह कि सीजर की सत्ता आज के कुलीनतंत्री शासकों की सत्ता की अपेक्षा बिल्कुल बौनी थी, इसके बावजूद वह बिना काम-धाम की नहीं थी, कम से कम उसकी फौजी व्यस्तताएं तो थीं ही, इसके ठीक विपरीत आज जिस किस्म की विस्फोट-क्षमता इन कुलीन शासकों के हाथ में है, समझ में आने लायक उसका कोई फौजी इस्तेमाल भी नहीं है। कोई सत्तर साल पहले वाल्ट लिपमान ने 'सहमति-निर्माण' को लेकर कहा था कि इसे इस हद तक 'परिशोधित' किया जा सकता है कि लोकतंत्र के व्यवहार में एक वास्तविक 'क्रांति' आ जाए। लेकिन आज पीछे मुड़कर देखने की स्थिति का लाभ लेते हुए हम जानते हैं कि 'सहमति निर्माण' की तकनीकें ऑरवेल की कल्पना की सीमा से भी कहीं आगे बढ़कर विकसित और धारदार बनाई जा चुकी हैं। कहने की जरूरत नहीं कि ये सभी लोकतंत्र के व्यवहार में क्रांति नहीं बल्कि प्रतिक्रांति लाने की ओर अग्रसर रही हैं। इसी को नोम चोम्स्की ने यूँ कहा है : "और ये सारी चीजें इतनी प्रभावशाली हो गई हैं कि जो हम देखना चाहते हैं, उसे ये देखने नहीं देती, जिस दुनिया में हम रहते हैं उसकी जानकारी और उसके ज्ञान से हमको दूर रखती हैं।"⁷⁹ लेकिन औपचारिक और कमोबेश कर्मकांडी शब्दावली को छोड़ दें तो प्रामाणिक लोकतंत्र को नहीं, बल्कि केवल कुलीनतंत्र को ही जबरदस्ती और बाध्यकारी साधनों से सहमति बनाने जैसी किसी चीज की जरूरत पड़ती है।

इस रोशनी में देखने पर हम कह सकते हैं कि हाइड्रोजन बम बनाने का फैसला पूरी तरह अवैध है क्योंकि यू. एस. और भूतपूर्व एस. यू. दोनों ही तरफ और छोटे गुट ही इस निर्णय को लेने वाले रहे हैं और इस फैसले की सजा हमारी समूची जाति को संपूर्ण विनाश की संभावना के बतौर हमारे सिर थोपा गया है लेकिन यह अवैधता प्रायः विद्वानों के लिए भी अबोधगम्य बनी रहती है। मसलन, एनरिको फर्मी और इसीडोर राबी ने एक संयुक्त बयान में कहा था कि सुपर बम विराट प्राकृतिक आपदाओं के अलावा कुछ और नहीं देने जा रहा है 'तथा यह कि किसी भी रोशनी में देखने पर अनिवार्यतः यह बुरी चीज ही है'। इसके बावजूद वे इसके निर्माण कार्य से किसी न किसी रूप में जुड़े ही रहे। दोनों के मामले में इसका जो औचित्य था, वह ऊपर से ठीक लगता है। यार्क के मुताबिक 'दोनों का यकीन था कि लोकतंत्र में अगर एक बार किसी मुद्दे पर विचार करके व्यवस्था कोई फैसला दे चुकी है तो फिर इसे हल मान लिया जाना चाहिए।'⁸⁰ लेकिन हमें यह देखना चाहिए था कि किसी कानूनी लोकतंत्र में भी एक छोटे गुट द्वारा

लिया गया फैसला मूलतः अलोकतांत्रिक बना रहता है क्योंकि इसकी कीमत चुकाने और इसके नतीजे भुगतने की जिम्मेदारी उस व्यापक जनसमुदाय पर आती है जिसका इस फैसले में कोई हाथ नहीं होता।

लेकिन लोकतांत्रिक अमरीका के शासक और नाशक गुटों की अहमन्य संवेदनहीनता ऐसी है कि उन्होंने इस किस्म की विस्फोटक शक्ति का उत्पादन जारी रखा है जिसे वे सिर्फ जुटा सकते हैं, खर्च नहीं कर सकते, ऐसा अकेला तरीका जिसके जरिए यह फट (दग) सकता है, वही है जिसे अज्ञानवश 'दुर्घटना' कहा जाता है। अज्ञान इसलिए कि पहले एक ऐसी स्थिति पैदा की जाती है जिसमें नाभिकीय अस्त्रों के अनचाहे फटने (दगने) की संभावना होती है और फिर इस भयावह संभावना को महज दुर्घटना आधारित बताकर खारिज कर दिया जाता है, यह बुद्धिमता का अपमान नहीं तो और क्या है।

जो भी हो अगर नाभिकीय अस्त्र आगामी *संपूर्ण* समय में अविस्फोटक ही रह जाएं तो भी 'लोक' के लिए इनसे हमेशा भारी पेशानी बनी रहेगी और उनका 'तंत्र' इसमें उनके किसी काम न आएगा। दरअसल यह एक विरोधाभास है, लेकिन हमारे समय की कुछ महत्वपूर्ण और विशिष्ट समस्याओं की व्याख्या इसी तथ्य में है कि ये विस्फोटक 'दागे नहीं जा सकते', कम से कम सोच समझ कर तो नहीं, यह उनकी 'अविस्फोटकनीयता' ही है जिसके चलते उचित सैन्य आवश्यकता और वास्तविक सैन्य खर्च के बीच का रिश्ता बिल्कुल टूट चुका है। सैन्य खर्च बे-लगाम हो गया है। इनकी अविस्फोटकनीयता का अस्तित्व ही उनके वेतहाशा और अंतहीन विस्तार के लिए छतरी का काम करता है। इतना ही नहीं, इसकी वजह से अविस्फोटक परंपरागत माने जाने वाले हथियारों और आकाश में मार करने वाले हथियारों का भी विस्तार होता है। यह सब देखते हुए यह ज्यादा अचरज की बात नहीं कि 1960 से 1990 तक दुनिया में उस चीज के नाम पर, (जिस यह व्यवस्था 'प्रतिरक्षा' कहती है) इसने 1987 में डालर का जो मूल्य था, उसके हिसाब से 210 खरब डालर खर्च किए हैं।⁸¹ इतने बड़े संसाधनों के सिरे से गायब हो जाने का एकमात्र अर्थ है, नागरिक क्षेत्रों में संसाधनों की कटौती और जनता से उत्पादक रोजगार के अवसरों का छीना जाना। लिहाजा जैसा कि जैरिमी ब्रुक का कहना है, आज माहौल पर 'काम के ही गायब हो जाने का चरम बोध' छाया हुआ है। मसलन, ओ. ई. सी. डी. (OECD) देशों में बेरोजगारी आजकल 9 प्रतिशत के आसपास पहुंच गई है, बगैर नौकरी के घूमने वाले लोगों की कुल संख्या 3 करोड़ 10 लाख है, जिनमें एक करोड़ 90 लाख यूरोप में हैं।⁸²

सतत बढ़ते इन फौजी खर्चों की अनिवार्य उपज नागरिकों के लिए रोजगार पैदा करने वाले संसाधनों में कटौती है जिसे अनदेखा करते हुए बहुतेरे अर्थशास्त्री मनुष्यों की इस भयावह व्यर्थता को सिर्फ आटोमेशन की शब्दावली में व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं। वैसिली लियोटीफ इसके लाक्षणिक उदाहरण हैं। उनके अनुसार वह प्रक्रिया, जिसके जरिए लगातार आ रहे नए कंप्यूटरीकृत स्वचालित और यंत्र-मानवीकृत औजारों द्वारा श्रम की भूमिका घटाने की उम्मीद बांधी जा रही है, वह उसी प्रक्रिया के समतुल्य है, जिसके तहत ट्रैक्टरों और दूसरी मशीनों ने कृषि-क्षेत्र से पहले घोड़ों और अन्य बोझा ढोने वाले पशुओं को घटाया और फिर उन्हें गायब ही कर दिया।⁸³ लेकिन हमारे आज के संकट काल की वास्तविक गंभीरता और उसके बुनियादी चरित्र को समझने में विफल रह जाने के चलते लियोटीफ इस स्थिति से बाहर आने के लिए महज काम में साझीदारी और काम के घंटों में कटौती जैसी सलाहें ही दे पाते हैं।

बहरहाल बेकार मनुष्य बेकार घोड़ों की अपेक्षा कहीं एकदम भिन्न किस्म की समस्याएं पैदा करते हैं। काम का अपूरणीय विलोप और उसके समानांतर गहराती बेकारी, भुखमरी तथा एकाकीपन की प्रवृत्तियों का निहितार्थ लोकतंत्र की मूल अंतर्वस्तु के, और साथ ही हमारे अस्तित्व के भी, सतत क्षीण होते जाने का लक्षण है। लेकिन भुखमरी का वर्णन महज एक नैतिक क्रोध के तहत करना और स्वचालन (आटोमेशन) तथा खुले फौजी खर्चों को बुनियादी कारणों के बतौर साफ-साफ रेखांकित करना, (जैसा अकदामिक समाजविज्ञानी करते रहते हैं,) मुद्दों के स्पष्ट करने के बजाए उन्हें धूमिल करना है। इससे यह सीधा निष्कर्ष निकलता है कि प्रगति के नाम पर तकनीकी जादूगरी और राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर फौजी खर्च बढ़ाते हुए नाशक वर्ग हर जगह बढ़ते बोझ और घटती स्वतंत्रता के अलावा कुछ और दे पाने की स्थिति में नहीं है। फिर भी, जैसा कि नोम चोम्स्की का कहना है, सत्ताधारियों को यह स्वाभाविक तथा स्पष्ट लगता है कि जनता को फुसलाना और धोखे में रखना, धमकाना तथा बुद्ध बनाए रखना बहुत जरूरी है, ताकि वे निर्बाध रूप से वह सब करते रहें, जिसे वे राष्ट्रीय हित कहा करते हैं। इसके अलावा मैक्सवेल टेलर जोर देकर यह बात कहते हैं कि एक नागरिक को 'सिर्फ उन्हीं बातों की जानकारी मिलनी चाहिए, जिन बातों की जानकारी की उन्हें एक अच्छे नागरिक की भूमिका निभाने के लिए जरूरत हो।'⁸⁴

दुर्भाग्यवश हिंसक समूहों की प्रतिसंस्कृति, अपने को बहुतेरे रूपों में जाहिर करती है, यह संस्कृति विश्व के कुछेक हिस्सों तक सीमित न होकर हर जगह

बुरी तरह छाई हुई है। अगर इसका कोई प्रमाण जरूरी हो तो इसकी प्रचंडता ही इस बात का प्रमाण है कि 'विकसित' और 'विकासशील' समाजों के अर्थतंत्र (जैसा कि आलोचनात्मक और गलत ढंग से उन्हें कहा जाने लगा है) काफी पैमाने पर परस्पर संबद्ध हैं। वे चाहें और जितना चाहें, उतने पैसे बना सकते हैं। ऊपर हमने भारत में बनी हुई ऐसी व्यवस्था का जायजा लिया जो महज भारत तक सीमित नहीं है। तमाम तरह के 'लाबी' बनाने वाले और 'प्रभाव' का धंधा करने वाले जहां-तहां से फूट पड़ते हैं और कारपोरेशनों के लिए ठेकों तथा सत्ताधारियों के लिए घूस सुनिश्चित करने लगते हैं। इस प्रक्रिया में वे किसी भी 'विकसित' देश के लोकतंत्र की नींव खोखली कर देते हैं, बशर्ते वहां ऐसा कुछ स्थापित हो गया हो। ऐसे में वास्तविक फौजी जरूरतें नहीं, बल्कि दलाली ही इस बात की वजह बन जाती है जिससे निरंतर भारी से भारी मात्रा में हथियार जरूरी होते जाते हैं। चूंकि उगाहे गए रुपयों का कम से कम हिस्सा चुनाव लड़ने में खर्च होता है और सब कुछ के बावजूद, चूंकि दलाली हथियार-खरीद का एक अनिवार्य 'उत्पाद' है, लिहाजा हम कह सकते हैं कि यह जो कुछ हो रहा है वह कम से कम व्यवहार में राजनीतिक लोकतंत्र को एक अति सैन्यीकृत प्रतिसंस्कृति द्वारा दबा दिए जाने का मामला है। इस चरम और सतत विकासमान प्रक्रिया की भारी कीमत संबंधित आर्थिक-राजनीतिक तंत्र को कमजोर करने के सिवा और कुछ नहीं कर सकती, लेकिन अलग-अलग किस्म की सत्ताएं और उनके वैचारिक प्रवक्ता इसे अंतहीन शक्ति संचय के रूप में ही देखते हैं। इस तरह हर सत्ता समूह के लिए यह जरूरी है कि वह 'बुरे इरादे वाले पड़ोसियों' के रूप में भयानक दानवों को खड़ा करे और उनके हथियार बटोरने के जवाब में पहले से भी ज्यादा हथियार हासिल करने में जुटा रहे। इस प्रक्रिया में हर समूह को ऐसी स्थितियां भी तैयार करनी होती हैं, जिनमें वह पहले अपने लोगों का दमन करे और फिर उनसे डरता रहे। ऐसी झूठी आशा करके वह मजबूत और स्थाई केंद्र निर्मित करना चाहता है। वह हर एक स्थानीय स्वायत्तता को कम करने और यहां तक कि उसे मिटा देने में जुटा रहता है। लेकिन होता यही है कि इस क्रम में हरेक गुट अधिकाधिक विखंडन की ओर या निर्मम होने की ओर ही बढ़ता है। हरेक को पहचान योग्य राष्ट्रीय इकाई के बतौर अपना औचित्य स्थापित करने के लिए कहीं ज्यादा विकेंद्रीकरण, वास्तविक लोकतंत्र, जनता को जीवन की मुख्य धारा में आर्थिक-राजनीतिक रूप से शामिल करना, भागीदारी बढ़ाने और जिसे रजनी कोठारी 'परिधि को सत्ता में लाना' कहते हैं, उसकी जरूरत है लेकिन हरेक ऐसे 'डेमोक्रेटिक क्रिस्टलाइजेशन'

को दरकिनार करने में ही भलाई समझता है। फिर भी यह 'बहिष्कृत लोगों के संघर्ष और जो लोग उनकी स्थिति से परिचित हैं उनकी चिंता'⁸⁵ ही है जो साथ-साथ मिलकर हमारे लिए एक औचित्यपूर्ण और मानवीय भविष्य की आशा बनाती है। इस आशा के साकार होने के लिए जरूरी है कि हमारे समय के इन नरभक्षियों की मूर्खतापूर्ण अभियानों की वैधता का सचेत निषेध किया जाए, जो बाहरी सफंदा के पेड़ (युकेलिप्टस) को प्रोत्साहित करते हैं और हमारे देशी जंगलों की बेझिझक हत्या कर देते हैं, जो बांध बनाते हैं और नदियों के उत्स की परवाह नहीं करते। स्वाभाविक है कि पर्यावरण सुरक्षा की उनकी अपील चाहे वह किसनी भी जोरदार हो, खोखली ही साबित होती हैं। अमर्त्य सेन की एक अभिव्यक्ति उधार लें जो उन्होंने एक सर्वथा भिन्न संदर्भ में कही थी, तो 'हम जो बोते हैं, वहीं काटते हैं और खासकर वह नहीं काटते जो हम बोते नहीं।'⁸⁶

सबका निचोड़ यह कि इस सब पर कोई कान न देना और सिर्फ इस बात पर जोर देना कि केवल सार्विक मताधिकार ही हमें या किसी और को लोकतंत्र बना देता है, तर्क के साथ बहुत बड़ा अत्याचार है। निश्चित रूप से वोट का कोई मतलब नहीं है, इससे कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है, निर्णय लेने की प्रक्रिया में आम लोगों की भागीदारी। इसे संभव करने के लिए इसके अलावा कोई चारा नहीं कि हम मौजूदा यथार्थ को उसकी संपूर्णता में समझें और सारे भ्रमों और गलतफहमियों को निकाल बाहर करें। मान्यताप्राप्त राजनीतिशास्त्र ने ठीक यही गलती की है कि लोकतंत्र को सार्विक वयस्क मताधिकार का पर्याय बना दिया है और इसी बात को जारी रखे हुए है। दूसरे शब्दों में यह ऐसे मुद्दों के प्रति मोहग्रस्त है जो हमारे समय के अस्तित्वगत संकट को देखते हुए अतिशुद्ध और छद्म माने जा सकते हैं। ऐसा होने के कारण उस अकादमिक प्रयास को, जिसे राजनीतिशास्त्र कहा जाता है, एक नया नाम दिया जाना चाहिए: और जो नाम खुद-ब-खुद सामने आता है, वह है 'छद्मशास्त्र,' (स्यूडोमी)। स्वाभाविक है कि इस शास्त्र में जुटे हुए लोग 'छद्मशास्त्री' (स्यूडोमाइस्ट) कहलाएंगे। बेशक यह कोई मृदुल नाम नहीं, दरअसल यह इसके ठीक विपरीत है। लेकिन इस नाम के पीछे यदि कोई मकसद हो सकता है तो यह कि यह उन्हें झकझोर दे जिन्हें हिला पाना भी मुमकिन नहीं है। इसे एक ऐसी हताशापूर्ण आकांक्षा के साथ उठाया गया कदम माना जा सकता है कि उनका पाला किसी ऐसी चीज से पड़ जाए जो उन्हें ऐसा झटका दे कि वे अपने आत्मतुष्ट, हृदयहीन सर्व-सहमति के खोल से बाहर आने को मजबूर हो जाएं। अंत में पूरी गंभीरता से यह कहना चाहता हूं कि सिर्फ इसलिए कि

ये बौद्धिकों को अपनी स्थिति पर पुनर्विचार के लिए एक झटका दे सके, मेरे द्वारा प्रस्तावित शब्दों को उच्चकोटि की शैक्षिक संभावनाओं वाले शब्दों का दर्जा दिया जाए और उसमें मृदुता की कमी की कतई परवाह न की जाए।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. नोम चोम्स्की, *नेसेसरी इल्यूजंस* (बोस्टन: साउथ एंड प्रेस, 1989) पृ. viii.
2. ए. एल. क्रोवर और क्लाड क्लकहान, *कल्चर: एंक्रिटिकल रिव्यू आफ कंसेप्ट्स एंड डिफिनिशंस* (न्यूयार्क: विंटेज बुक्स, 1952), पृ. 291.
3. वही, पृ. 3.
4. लेस्ली ए. व्हाइट, *रिव्यू आर्टिकल, द अमेरिकन ऐंथ्रोपोलाजिस्ट ग्रंथ* 56, 1954, पृ. 462.
5. जोन राविंसन, 'द इकोनामिक्स आफ डिस्ट्रिक्शन,' *मंथली रिव्यू*, अक्टूबर 1983, पृ. 15.
6. कार्ल आर. पापर, *द पावर्टी आफ हिस्टोरिज्म* (रूटलेज एंड केगन पाल, 1969), पृ. 58.
7. बर्ट्रेण्ड रसेल, *पोस्ट्रिट्स फ्रॉम मेमोरी* (लंदन: ऐलेन एंड अनविन, 1956) पृ. 160-62.
8. ग्रेगरी बेट्सन, *माइंड एंड नेचर* (लंदन: फ्लेमिंगो, 1985), पृ. 231.
9. वेनर हाइजेनबर्ग, *फिजिक्स एंड फिलासफी* (लंदन: ऐलेन एंड अनविन, 1959), पृ. 73, 75.
10. ए.एन. व्हाइटहेड, *साइंस एंड द माडर्न वर्ल्ड* (लंदन: कार्लिस, 1975), पृ. 54.
11. सी.एस.एम. I और सी.एस.एम. II से तात्पर्य जान कार्टिघम, राबर्ट स्टुटहाफ और इगलस मुर्डाक (सभी अनुवादक) की किताब *द फिलासफिकल राइटिंग्स आफ देकार्त* (केंब्रिज: केंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984 ग्रंथ II और 1985 ग्रंथ I) के ग्रंथ I और ग्रंथ II से है. देकार्त के लेखन के इस रूप का संदर्भ कोष्ठक में दिया है, और पेज संख्याएं ग्रंथ संख्या के ठीक बाद दी हुई हैं.
12. जोन राविंसन, *इकोनामिक फिलासफी* (हारमंड्सवर्थ: पेंग्विन बुक्स, 1966), पृ. 9.
13. नोम चोम्स्की, *कार्तेजियन लिग्विस्टिक्स* (न्यूयार्क: हार्पर एंड रो, 1966), पृ. 76-77.
14. विल एंड गेरियल ड्यूरां, *द एज आफ रीजन विगिन्स* (न्यूयार्क साइमन एंड रस्टर, 1961) पृ. 17-18.
15. बर्नार्ड विलियम्स, *देकार्त: ए प्रोजेक्ट आफ प्योर इनक्वायरी* (हारमंड्सवर्थ: पेंग्विन बुक्स, 1979) पृ. 17.
16. विल एंड गेरियल ड्यूरां सं. 14, पृ. 17.
17. बर्नार्ड विलियम्स सं. 15, पृ. 17.
18. लेविस मफोर्ड, *द मिथ आफ द मशीन: टेक्नीक्स एंड ह्यूमन डेवलपमेंट* (न्यूयार्क: हरकॉर्ट 1967) पृ. 257.

संस्कृति शिक्षा और लोकतंत्र

19. मागरिट डालर विल्सन, देकार्त (लंदन: रूटलेज एंड केगन पाल, 1982) पृ. viii.
20. जान कमिंघम, देकार्त (आक्सफोर्ड: बैसिल ब्लैकवेल, 1986) पृ. 119.
21. नोम चोमस्की, 'पेंटल कांस्ट्रक्शंस एंड सोशल रियलिटी' (अप्रकाशित भाषण, मई 1989).
22. मागरिट डालर विल्सन सं. 19.
23. नोम चोमस्की सं. 13. पृ. 14-15.
24. रेमंड विलियम्स, की वर्ड्स (लंदन: फोंटाना, 1988) पृ. 87, 91.
25. निकाल्स ज्योजेस्कू कीवर्ड्स रेगेन, द एंड्रापी लो एंड द इकोनामिक प्रासेस (केंब्रिज मास: हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1974) पृ. 14.
26. वही.
27. वही, पृ. 50.
28. वही, पृ. 52.
29. लेस्ली ए. व्हाइट, द इवोल्यूशन आफ कल्चर (न्यूयार्क: मैकग्रा-हिल, 1959), पृ. 3.
30. ऐक्ट्स ह्यूमनी और ऐक्ट्स होमिनिस के बीच अंतर के लिए मैं जिम्मुंट का आभारी हूँ. कल्चर ऐज प्रैक्टिस (लंदन: रूटलेज एंड केगन पाल, 1973), पृ. 39.
31. क्लिफर्ड गील्ज, 'द ट्रांजिशन टु हुयूमैनिटी,' सोल टैक्स एंड लेस्ली जी. फ्रीमैन (संपादन) होराइजंस आफ ऐंथ्रोपोलाजी (शिकागो: ऐल्डीन, 1977), पृ. 21-22.
32. लेविस मॅफोर्ड, सं., 18, पृ. 161.
33. हांस जोनास, द इंपरेटिव आफ रिस्पॉसिबिलिटी (शिकागो: द यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस, 1984), पृ. 27.
34. जिम गैरिसन, फ्राम हिरोशिमा टु हैरिसबर्ग (लंदन: एस सी एम प्रेस, 1980), पृ. 226.
35. यह कैलेंडर सबसे पहले आर्थर कोस्पलर द्वारा 1960 में एक वी. वी. सी. प्रसारण में प्रस्तावित किया गया था, जो कि बाद में उनके कैलीडोस्कोप (लंदन: हर्चिसन 1981, पृ. 33-8) में शामिल किया गया था. उनकी ब्रिक्स टु बैबेल (लंदन: हर्चिसन, 1980, पृ. 507) भी देखें.
36. जिम्मुंट बाउमैन, सं. 30, पृ. 34. 119.
37. सीनहार्ट जान एस. एंड स्टीनहार्ट कैरोल ई. 'इनर्जी यूज इन द यू. एस. फूड सिस्टम' साइंस, 14 अप्रैल 1974.
38. पाल ए. सैमुएल्सन और विलियम ई नार्थ हाउस, इकोनामिक्स (न्यूयार्क: मैकग्रा हिल, 1989), पृ. 27-28.
39. रेमंड विलियम्स, द लांग रिवोल्यूशन (हार्मड्सवर्थ: पेंग्विन बुक्स, 1975) पृ. 57, 59 जोर मेरा है.
40. कार्ल मार्क्स, कैपिटल (मास्को: प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1977), ग्रंथ I, पृ. 174.
41. पियरे लेलहार्द द चार्दन, द फेनोमेना आफ मैन (लंदन: कालिंग, 1960), पृ. 14, 182-83.

संस्कृति शिक्षा और लोकतंत्र

42. इवान इलिच, शैडो वर्क (बोस्टन: मरिआन योआयर्स, 1981), पृ. 46.
43. रूथ लेगर सिवार्ड, वर्ल्ड मिलिटरी एंड सोशल एक्सपेंडिचर्स 1986 (वाशिंगटन डी. सी: वर्ल्ड प्रायरिटीज, 1986), पृ. 13.
44. लेनार्ड बिकेल, द डेडली एलीमेंट (न्यूयार्क: स्टीन एंड डे, 1976) पृ. 271.
45. आल्डुअस हक्सले, ब्रेव न्यू वर्ल्ड (सैंट अल्बांस: ट्रायड पेंथर, 1977) पृ. 8.
46. लार्ड जुकरमान, 'डिफीट इज अनडिविजिबुल,' लार्ड माउंटबेटन एंड अदर्स में, ऐंपोकेलिप्स नाउ, (नार्टिंघम: स्पोक्समैन, 1981), पृ. 16.
47. पाओलो फ्रेरे, एजुकेशन: द प्रैक्टिस आफ फ्रीडम (लंदन: राइटर्स एंड रीडर्स, 1976), पृ. 44.
48. अल्बर्ट आइंस्टीन, आइडियाज एंड ओपिनियंस, (लंदन: सावेनर प्रेस, 1973), पृ. 272.
49. पाओलो फ्रेरे, पेडागाजी आफ द आप्रेस्ट (हार्मड्सवर्थ: पेंग्विन बुक्स, 1975), पृ. 80.
50. लेस्ली ए. व्हाइट, 'मैस कंट्रोल ओवर सिविलाइजेशन: ऐन ऐंथ्रोपो-सैंट्रिक इल्युजन' मार्टन एच. फ्राइड (सं.) रीडिंग्स इन ऐंथ्रोपोलाजी-कल्चर (न्यूयार्क: क्रानेक, 1960), पृ. 557-58.
51. बर्ट्रेड रसेल, द इंपेक्ट आफ साइंस आन सांसाइटी (बांबे: ब्लेकी एंड सन 1958), पृ. 113.
52. हांस जोन्स, सं. 33, पृ. 37.
53. ब्रायन मेगी के साथ बातचीत, ब्रायन मेगी, द ग्रेट फिलासफर्स (आक्सफोर्ड: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1987), 81.
54. ए.जे. आयर, द प्राक्लम्स आफ नालेज (हार्मड्सवर्थ: पेंग्विन बुक्स, 1958), पृ. 44-45.
55. मैक्स बार्न: द बार्न-आइंस्टीन लैटर्स (न्यूयार्क: वाकर 1971) पृ. 192.
56. देखें अल्बर्ट आइंस्टीन पर प्रकाशित शताब्दी ग्रंथ, इंडियन नैशनल साइंस अकादमी, नई दिल्ली, 1984, पृ. 16.
57. डोनाल्ड वास्टर, नेचर्स इकानामी (केंब्रिज: केंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985), पृ. 89.
58. नार्मन मायर्स, 'द हेंबर्गर कनेक्शन,' ऐंथ्रोपो नं. 1, 1981, पृ. 5, 7.
59. अल्बर्ट आइंस्टीन, सं. 48, पृ. 226.
60. वही पृ. 266.
61. जान न्यूहाउस, वार एंड पीस इन न्यूक्लियर एज (न्यूयार्क: नाफ, 1989), पृ. 38.
62. जेरोम एस. ब्रुनर, द रिलीवेंस आफ एजुकेशन (हार्मड्सवर्थ: पेंग्विन बुक्स, 1976), पृ. 13.
63. आल्विन आर्द. गाल्डमैन, एपिस्टेमोलाजी एंड काग्निशन (केंब्रिज, मास: हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1986), पृ. 265.
64. एल. डी. कोहेन, 'देकार्त एंड हेनरी मोर आन वीस्ट मशीन' ऐनल्स आफ साइंस नं. 1936, पृ. 50.
65. ब्रायन डॉस्लिआ, फार्दरिंग द अनथिंकेबुल (लंदन: प्लूटो प्रेस, 1983), पृ. 23.

संस्कृति शिक्षा और लोकतंत्र

66. कैरोलिन मर्चेट, *द डेथ आफ नेचर* (सानफ्रांसिस्को, हार्पर एंड रो, 1982), पृ. 244.
67. जे.ई. लवलॉक, *गाइआ: ए न्यू लुक ऐट लाइफ आन अर्थ* (आक्सफोर्ड: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1987), पृ. 9.
68. कर्टालिन मर्चेट, सं. 66, पृ. 3.
69. जैक मैरिटेन, *एजुकेशन एट द क्रासरोड्स* (न्यू हैवन, 1960), पृ. 19.
70. रोजर स्पेरी, साइंस एंड मौरल प्रायरिटी (आक्सफोर्ड: वैसिल ब्लैकवेल, 1983), पृ. 55.
71. दि टाइम्स आफ इंडिया, 11 दिसंबर 1989.
72. रामचंद्र गुहा, 'इकोलोजी, पालिटिक्स एंड एनक्शंस,' लोकायन बुलेटिन, ग्रंथ VII सं. 4, जुलाई-अगस्त 1989.
73. इंडियन एक्सप्रेस, 13 नवंबर, 1989.
74. इंडियन एक्सप्रेस, 25 अक्टूबर, 1989.
75. जान न्यूहाउस, सं. 61, पृ. 43.
76. इवर्ट एफ. यार्क, *द ऐडवाइजर्स: ओपेन ईयर टेकर एंड द सुपर बांब* (सैन फ्रांसिस्को: डब्ल्यू. एच. फ्रीमैन 1976), पृ. 2, 10, 12, 46.
77. जान न्यूहाउस सं. 61, पृ. 78.
78. सी राइट मिल्स, *द पावल इलीट* (लंदन: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1972), पृ. 23.
79. नोम चोम्स्की, 'द मैनुफैक्चर आफ कनसेंट, अनपब्लिशड लेक्चर, 9 दिसंबर, 1984.
80. राबर्ट एफ. यार्क, 'मेकिंग वेपंस टाकिंग पीस', *द बुलेटिन आफ द एटामिक साइंटिस्ट्स*, मई 1988, पृ. 11.
81. रूथ लेगर सिवार्ड, *वर्ल्ड मिलिटरी एंड सोशल एक्सपेंडिचर्स* 1991 (वाशिंगटन डी सी: वर्ल्ड प्रायरिटीज), पृ. 11.
82. चार्ल्स लेडवीटर एंड जान लायड, *इन सर्व आफ वर्क* (हार्मड्सवर्थ: पेंग्विन बुक्स, 1987), पृ. 36.
83. वैसिली लियोनीतीफ, 'टेक्निकल एडवांस, इकोनामिक ग्रोथ एंड द डिस्ट्रीब्यूशन आफ इनकम,' *पापुलेशन एंड डेवलपमेंट रिव्यू*, सितंबर, 1983, पृ. 405.
84. नोम चोम्स्की, *द बैकरूम ब्यांयज* (लंदन: फोंटाना, 1973), पृ. 36.
85. रजनी कोठारी, 'द इंडियन इंटरप्राइज,' *डेडलस*, फाल, 1989, पृ. 64-65.
86. अमर्त्य सेन, 'इंडियन डेवलपमेंट: लेसंस एंड नानलेसंस' *डेडलस*, फाल 1989, पृ. 387.